वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
स्वामी विवेकानन्द का
१५०वाँ जन्मवर्ष
वर्ष ५१ अंक ७
जुलाई २०१३
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक ७

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्त्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

गणयन्ति न ये सूर्यं वृष्टिं शीतं च कर्षकाः ।
यतन्ते सस्यलाभाय तैः साकं हि वसामि अहं ।।८७।।

– वे कृषक, जो धूप, वर्षा तथा ठण्ड की परवाह किये बिना निरन्तर अनाज उत्पादन की चेष्टा में लगे रहते हैं, मैं (परमात्मा) निश्चय ही उनके साथ रहता हूँ।

गर्वाय परपीडायै दुर्जनस्य धनं बलं ।
सुजनस्य तु दानाय रक्षणाय च ते सदा ।।२८८।।

– दुष्ट व्यक्ति का धन तथा बल या तो अहंकार के प्रदर्शन हेतु होता है अथवा दूसरों को पीड़ित करने के लिये। जबकि सज्जन व्यक्ति का धन सर्वदा दान के लिये तथा बल दूसरों की रक्षा के लिये होता है।

गुणैरुत्तुंगतां याति नोत्तुंगेनासनेन वै ।
प्रासाद-शिखरस्थोऽपि काको न गरुडायते ।।८९।।

– व्यक्ति केवल ऊँचे आसन से ही नहीं, अपितु अपने गुणों से महानता प्राप्त करता है, वैसे ही जैसे कि भवन के शिखर पर बैठ जाने मात्र से कौआ गरुड़ के तुल्य नहीं हो जाता।

गुरुशुश्रूशया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थो न उपलभ्यते ।।९०।।

– विद्या या तो गुरु की सेवा-सुश्रूषा से प्राप्त होती है, अथवा प्रचुर धन के द्वारा, या फिर विद्या के विनिमय में – इसे प्राप्त करने का कोई चौथा उपाय नहीं है।

गेहमेव-उपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।
अशान्तस्याप्यरण्यानि विजना सजना पुरी ।।९१।।

– शान्त व्यक्ति के लिये अपना घर ही घोर निर्जन वन के समान है; और अशान्त व्यक्ति के लिये निर्जन वन भी लोगों से परिपूर्ण नगर के समान है।

गुरुर्बन्धुरबन्धूनां गुरुश्चक्षुरचक्षुषां ।
गुरुः पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनां ।।९२।।

– जिनका अपना कोई नहीं, गुरु उन लोगों के लिये बन्धु हैं; जो लोग दृष्टिहीन हैं, गुरु उन लोगों के लिये नेत्र हैं; और जो लोग न्याय के पथ पर चलते हैं, गुरु उन सभी के लिये माता-पिता के समान संरक्षक हैं।

गोदुग्धं वाटिका-पुष्पं विद्या कूपोदकं धनम् ।
दानाद् विबर्धते नित्यम् अदानाच्च विनश्यति।।९३।।

– गाय का दूध, उद्यान के पुष्प, विद्या (अर्थात् ज्ञान), कुएँ का जल और धन-समृद्धि आदि दान से नित्य-निरन्तर वृद्धि को और अदान (संग्रह-मात्र) से विनाश को प्राप्त होते हैं।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।९४।

– हे गंगा, हे यमुना, हे गोदावरी, हे सरस्वती, हे नर्मदा, हे सिन्धु, हे कावेरी – आप कृपया आकर इस जल में प्रवेश करें। (स्नान-जल में पवित्र नदियों के आवाहन का मंत्र।)

घटं भिन्द्यात् पटं छिन्द्यात् कुर्यात् रासभरोहणं ।
येन केन प्रकरेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत् ।।२९५।।

– चाहे घड़ा फोड़कर, या अपने कपड़े फाड़कर, अथवा गधे पर सवार होकर – किसी भी युक्ति से व्यक्ति प्रसिद्ध होने का प्रयास करता है।

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमा ।
चन्द्र-चन्दनयोरपि शीतला साधु-संगतिः।।२९६।।

– विश्व में चन्दन को शीतल मानते हैं और चन्द्रमा को उससे भी अधिक शीतल मानते हैं, पर साधुजनों की संगति इन दोनों से भी कहीं अधिक शीतल होती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(केदार–कहरवा)

स्वामीजी आओ फिर जग में, लेकर पौरुष का अवतार।
कृपादृष्टि से दूर करो सब, भारत-भू का हाहाकार।।

बैठे थे तुम दत्तचित्त हो, परमहंस गुरु के चरणों में;
ना जाने अनुभूति हुई क्या, ब्रह्मबोध के दिव्य क्षणों में।
युग को मिली अमोल सम्पदा, धन्य हुआ सारा संसार।।

धर्म-कर्म की अलख जगाने, होम किया तुमने निज जीवन,
नहीं शब्द हैं पास हमारे, कैसे करें तुम्हारा वन्दन।
आत्मशक्ति के परम उपासक, प्रणति करो मेरी स्वीकार।।

यथाशीघ्र तुम आओगे ही, जगती के दुख-दैन्य मिटाने,
ईश्वर-रूप सभी मानव हैं, सेवा का सन्देश सिखाने।
भावी युग को देना होगा, सुदृढ़ सबल जीवन-आधार।।

भोगवाद से पीड़ित जग को, परम तत्त्व वेदान्त सिखाना,
जाति-वर्ग पाश्चात्य-पूर्व के, जन-गण-मन से भेद मिटाना।
रामराज्य की सुखद कल्पना, करना है 'विदेह' साकार।।

– २ –

(भैरवी–कहरवा)

(एक बँगला गीत का भावानुवाद)

कौन बजाता अभिनव सुर में, भारत की अन्तर वीणा को ।
सारा विश्व कर रहा वन्दन, मधु-झंकृति पर मुग्ध चकित हो ।।

ललित छन्द, सुर मधुर मन्द्र में, व्याप रही ध्वनि रंध्र रंध्र में ।
फैल रहा भारत का गौरव, सुप्त पड़ा था निद्रा में जो ।।

हिम-शिखरों पर सागर तट पर, प्राच्य प्रतीचि देश-देशान्तर ।
कर वेदान्त-प्रचार जगत् में, शुभ सन्मार्ग दिखाया सबको ।।

अर्पित कर सब गुरु चरणों पर, संन्यासी का साज लिया धर ।
ज्ञान-भक्ति-सेवा का व्रत ले, निकले जन-गण-मन प्रेरण को ।।

– *विदेह*

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

लन्दन, २० नवम्बर १८९६ : १६ दिसम्बर को मैं इंग्लैंड से इटली के लिए रवाना होऊँगा और नेपल्स से 'लायड एस. एस. प्रिन्स रीजेण्ट लिआपोल्ड' नामक जर्मन जहाज से प्रस्थान करूँगा। जहाज आगामी १४ जनवरी के कोलम्बो पहुँचने वाला है।

लंका में मैं कुछ देखना चाहता हूँ: फिर वहाँ से मद्रास पहुँचूँगा। मेरे साथ तीन अंग्रेज मित्र हैं – कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर और श्री गुडविन। सेवियर और उनकी पत्नी हिमालय में, अल्मोड़ा पहाड़ पर एक आश्रम बनाने की सोच रहे हैं, जिसे मैं अपना 'हिमालय का केन्द्र' बनाऊँगा, और पाश्चात्य शिष्यों को वहाँ ब्रह्मचारी और संन्यासियों के रूप में रखूँगा। गुडविन एक अविवाहित युवक है। वह मेरे साथ भ्रमण करेगा और साथ ही रहेगा; वह संन्यासी जैसा ही है। ...

मेरी वर्तमान योजना यह है कि युवक प्रचारकों को शिक्षा देने के लिए कलकत्ता और मद्रास में – दो केन्द्र स्थापित करना। कलकत्ते के केन्द्र के लिए मेरे पास पर्याप्त धन है। कलकत्ता श्रीरामकृष्ण देव के जीवन की लीलाभूमि रह चुका है, इसलिए मेरा ध्यान पहले आकर्षित करता है। मद्रास के केन्द्र के लिए मैं आशा करता हूँ कि भारत से मुझे धन मिल जायेगा।

हम इन तीनों केन्द्रों से काम आरम्भ करेंगे। फिर इसके बाद बम्बई और इलाहाबाद में करेंगे। इन तीन स्थानों से, यदि भगवान् की कृपा हुई तो, हम पूरे भारत में ही नहीं, अपितु सारे संसार में प्रचारकों की टोलियाँ भेजेंगे। यही हमारा प्रथम कर्तव्य होना चाहिए।... तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि मेरे कार्य 'केवल भारतीय' नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय हैं।[१६४]

लन्दन, २८ नवम्बर १८९६ : लन्दन में हमारे कार्य को जबरदस्त सफलता मिली है।... कैप्टन तथा श्रीमती सेवियर और श्री गुडविन कार्य करने के लिए मेरे साथ भारत के लिये प्रस्थान कर रहे हैं और उसका व्यय-भार भी वे स्वयं उठायेंगे।... मैं इस समय कलकत्ते तथा हिमालय में एक-एक केन्द्र स्थापित करने जा रहा हूँ। प्राय: ७००० फुट ऊँची एक समूची पहाड़ी पर हिमालय-केन्द्र स्थापित होगा। वह पहाड़ी गर्मी की ऋतु में शीतल तथा जाड़े में ठण्डी रहेगी। कैप्टन तथा श्रीमती सेवियर वहीं रहेंगे।[१६५]

लन्दन, ३ दिसम्बर १८९६ : यहाँ अब कुछ चहल-पहल शुरू हो गयी है; ३९, विक्टोरिया के बड़े हाल में कक्षा लगती है, जो भर चुका है, फिर भी और लोग भी कक्षा में शामिल होना चाहते हैं।

साथ ही, वह प्राचीन भला देश मुझे पुकार रहा है; जाना ही होगा। इसलिए इस अप्रैल में रूस जाने की समस्त परियोजनाओं को नमस्कार।

मैं भारत में कर्म-चक्र की शुरुआत करके ही फिर से चिर-रमणीय अमेरिका तथा इंग्लैंड आदि के लिए प्रस्थान कर दूँगा। ...

गुडविन का आना बड़े मौके से हुआ, क्योंकि इससे व्याख्यानों का ठीक विवरण तैयार हो रहा है, जिनका नियतकालिक-पत्रक के रूप में प्रकाशन हो रहा है।... अगले हफ्ते तीन व्याख्यान होंगे और इस मौसम का मेरा लन्दन का कार्य समाप्त हो जायगा। यहाँ इस वक्त धूम मची है, अत: मेरे छोड़कर चले जाने को सभी लोग नादानी समझते हैं, पर प्यारे प्रभु का आदेश है – ''प्राचीन भारत को प्रस्थान करो।'' मैं आदेश का पालन कर रहा हूँ।[१६६]

डैम्पफर, प्रिंस रीजेंट लियोपोल्ड, ३ जनवरी, १८९७: नेपल्स से चार दिनों की भयावह समुद्र-यात्रा के पश्चात् हम लोग पोर्टसईद के निकट पहुँच रहे हैं। जहाज अत्यधिक हिल-डुल रहा हैं, अत: ऐसी परिस्थिति में अपनी खराब लिखावट के लिए तुमसे क्षमा चाहता हूँ। स्वेज से एशिया महाद्वीप आरम्भ हो जाता है। एक बार फिर एशिया आया। मैं क्या हूँ? एशियाई, यूरोपीय या अमरीकी? मैं तो अपने में व्यक्तित्वों की एक अजीब खिचड़ी पाता हूँ। ...

कुछ ही दिनों में मैं कोलम्बो में जहाज से उतरूँगा और फिर थोड़ा लंका को देखने का विचार है। ...

पश्चिमी देशों के सभी स्थानों की अपेक्षा रोम मुझे ज्यादा अच्छा लगा और पामपेई देखने के बाद तो तथाकथित आधुनिक सभ्यता के प्रति समादर की मेरी सारी भावना ही लुप्त हो गयी। वाष्प तथा विद्युत्-शक्ति के अतिरिक्त उनके पास और सब कुछ था और कला-सम्बन्धी उनके विचार तथा कृतियाँ तो आधुनिकों की अपेक्षा लाख गुनी उन्नत थीं।[१६७]

इंग्लैंड से लौटते समय मैंने एक अद्‌भुत स्वप्न देखा था। जब हमारा जहाज़ भूमध्यसागर में चल रहा था, स्वप्नावस्था में मैंने देखा कि एक ऋषितुल्य वृद्ध मेरे पास आकर खड़ा हो गया और बोला – तुम आओ, हमको पुन: प्रतिष्ठित कर दो। मैं थेरापुत्तस के प्राचीन पन्थ का अनुयायी हूँ, जो प्राचीन भारतीय ऋषियों की शिक्षाओं पर आधारित है। जिस सत्य और जिन आदर्शों का हमने प्रचार किया, ईसाई लोग उनका ईसा मसीह द्वारा प्रचलित किया जाना बताते हैं; पर सच तो यह है कि ईसा मसीह नाम का कोई व्यक्ति कभी जन्मा ही नहीं। इस बात को सिद्ध करने के लिए यदि यहाँ खुदाई की जाय, तो कई प्रमाण मिल सकेंगे।" मैंने पूछा, "कौन-सी जगह खुदाई करने पर वे अवशेष और प्रमाण मिलेंगे?" उस श्वेतकेशी वृद्ध ने तुर्की के पास का एक स्थान बताकर कहा, "वहाँ।" इतने में ही मैं जाग गया और तत्काल भागकर डेक पर मैंने जहाज के कप्तान से पूछा कि जहाज इस समय कहाँ है? जहाज के कप्तान ने हाथ से दिखाते हुए कहा, "वह तुर्किस्तान है और वह क्रीट द्वीप है।"[१६८]

परिश्रम करते-करते मैं प्राय: मौत के मुख में पहुँच गया था। मुझे अपनी सारी शक्तियाँ केवल इसलिए अमेरिका में खर्च करनी पड़ीं, ताकि वहाँ वाले अधिक उदार और आध्यात्मिक होना सीखें। इंग्लैंड में मैंने केवल छ: महीने ही काम किया। वहाँ किसी ने भी मेरे विरुद्ध झूठा दुष्प्रचार नहीं किया, सिवाय एक के; और वह भी एक अमेरिकी महिला की करतूत थी, जिसे जानकर मेरे अंग्रेज मित्रों को तसल्ली मिली। दोष लगाना तो दूर रहा, इंग्लिश चर्च के अनेक अच्छे-अच्छे पादरी मेरे पक्के दोस्त बन गये और बिना माँगे ही मुझे अपने कार्य के लिए बहुत सहायता मिली।[१६९]

(अमेरिका का मेरा अनुभव) आदि से अन्त तक बहुत अच्छा रहा। ... अमेरिका के लोग अत्यन्त अतिथि-परायण, दयालु, उदार और अच्छे स्वभाववाले हैं।[१७०]

(अमेरिका और इंग्लैंड के) सामाजिक उथल-पुथल करनेवाले सभी लोग, कम-से-कम उनके नेता यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उनके समस्त साम्यवादी सिद्धान्तों का आधार आध्यात्मिक होना चाहिए; और वह आध्यात्मिक आधार केवल वेदान्त में है। मेरे व्याख्यान सुननेवाले कितने ही नेताओं ने मुझसे कहा है कि उन्हें इस नवीन व्यवस्था के आधार के रूप में वेदान्त की आवश्यकता है। ...

अमेरिका और इंग्लैंड में मैं बहुत बार केवल अपनी वेश-भूषा के कारण भीड़ों द्वारा प्राय: आक्रांत किया गया हूँ। पर भारत में मैंने ऐसी बात कभी नहीं सुनी कि भीड़ किसी मनुष्य कि वेश-भूषा के कारण उसके पीछे पड़ गयी हो।[१७१]

यूरोपीय रीति के अनुसार रहने की जो थोड़ी-बहुत साध थी, उसे अमेरिकी गोरों ने मिटा दी। दाढ़ी की खुजली से बेचैनी बढ़ी हुई थी, पर नाई की दुकान में घुसते ही आवाज आयी, "यह चेहरा यहाँ नहीं चलेगा।" मैंने सोचा – शायद सिर की पगड़ी और शरीर पर यह अजीब गेरुआ लबादा नाई को पसन्द नहीं आया। अच्छा, तो एक अंग्रेजी कोट और टोप खरीद लाऊँ। लाने ही को था कि भाग्यवश एक भले अमेरिकी से मुलाकात हो गयी। उसने समझा दिया कि यह लबादा तो भी अच्छा है, भले आदमी कुछ नहीं कहेंगे, परन्तु यूरोपीय पोशाक पहनने से आफ़त होगी – सब लोग खदेड़ेंगे। इसी तरह दो और सैलूनों ने भी रास्ता दिखा दिया। तब से अपने हाथ से ही मूड़ना शुरू किया। आँतें भूख से ऐंठ रही थीं, तो एक हलवाई की दूकान पर गया और खाने की कोई चीज माँगी, पर उसने कहा, "नहीं है।" – "सामने ही तो है।" – "बाबाजी, सीधी भाषा यह है कि तुम्हारे लिए यहाँ बैठकर खाने की जगह नहीं है।" – "क्यों, बच्चाजी?" – "तुम्हारे साथ जो खायेगा उसकी जात जायगी।" तब अमेरिका भी बहुत कुछ अपने देश की ही तरह अच्छा लगने लगा।[१७२]

(स्वामीजी ने बताया कि पश्चिमी देशों में उनके तीन हजार या उससे भी अधिक शिष्य हैं। उन्होंने आगे कहा –) मेरे सभी शिष्य ब्राह्मण हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि अ-ब्राह्मणों को प्रणव का अधिकार नहीं है। पर ब्राह्मण का पुत्र सर्वदा ब्राह्मण ही नहीं होता, यद्यपि उसके ब्राह्मण होने की सम्भावना अवश्य रहती है।... जाति से ब्राह्मण होना और गुणों से ब्राह्मण होना – ये दो भिन्न बातें हैं। भारत में ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही ब्राह्मण कहलाने लगता है, पर पश्चिम में यदि कोई ब्राह्मणत्व से युक्त हो, तो उसे ब्राह्मण ही मानना चाहिए।[१७३]

हृदय से मैं एक अतीन्द्रिय अध्यात्मवादी हूँ।... यह सारा युक्ति-तर्क केवल सतही है। वस्तुत: मैं सर्वदा लक्षणों तथा ऐसी ही चीजों की खोज में रहता हूँ – और इस कारण मैं अपने द्वारा दीक्षित शिष्यों के भविष्य के विषय में सिर नहीं खपाता। यदि (मेरे शिष्य) संन्यास लेने को बड़े आतुर हैं, तो फिर उनके भविष्य की चिन्ता करना मेरा कार्य नहीं है। वैसे इसका बुरा पक्ष भी है। कभी-कभी मुझे अपनी इस भूल के लिये काफी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है – परन्तु इसमें एक सुविधा भी है। इन समस्त घटनाओं के बीच भी इसने मुझे अब भी एक संन्यासी बनाये रखा है।[१७४]

मैं अपने सहयोगियों के कार्य में जरा भी हस्तक्षेप नहीं करता; क्योंकि जिसमें कार्य करने की क्षमता है, उसका एक

अपना व्यक्तित्व होता है, जो किसी भी दबाव का प्रतिरोध करता है। यही कारण है कि मैं अपने कर्मियों को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करता हूँ।[१७५]

हिन्दू विदेशों में – रंगून, जावा, हांगकांग, जंजीवार, मैडागास्कर, स्वेज, अदन, माल्टा आदि जाते हैं, पर साथ में गंगाजल और गीता ले जाते हैं। गीता और गंगा में हिन्दुओं का हिन्दुत्व है। इस बार मैंने भी थोड़ा-सा साथ रख लिया था। बीच-बीच में थोड़ा-सा पी लेता। परन्तु पीने के बाद ही – उस पाश्चात्य जन-समुद्र के बीच, सभ्यता के दौड़धूप के बीच, उस कोटि-कोटि मानवों के क्षिप्तप्राय द्रुत-पद-संचार के बीच – मन मानो स्थिर हो जाया करता था। वह जनस्रोत, वह रजोगुण का प्रदर्शन, वह प्रतिपद-प्रतिद्वन्द्विता-संघर्ष, वह विलासभूमि, इन्द्रपुरी सदृश पेरिस, लन्दन, न्यूयार्क, बर्लिन, रोम – सब लुप्त हो जाता था; और मैं सुनता था – वही 'हर-हर-हर', देखता था – वही हिमालय की गोद में स्थित निर्जन वन-प्रान्तर और कल-कल-निनादिनी सुर-सरिता मानो हृदय में, मस्तक में और हर शिरे में संचार कर रही है और गर्जना करती हुई पुकार रही हो – 'हर हर हर'![१७६]

अपने जीवन की पिछली घटनाओं का सिंहावलोकन करने पर मुझे किसी तरह का पश्चाताप नहीं होता। लोगों को कुछ न कुछ शिक्षा देते हुए मैंने विभिन्न देशों का पर्यटन किया है और उसके बदले प्राप्त हुई रोटियों के टुकड़ों से अपनी उदरपूर्ति की है। यदि मैं यह देखता कि लोगों को ठगने के सिवाय मैंने और कुछ भी नहीं किया है, तो मैं आज स्वयं ही अपने गले में फाँसी लगाकर मर जाता।[१७७]

पाश्चात्य लोग सोचते हैं कि मनुष्य जितना धर्मपरायण होगा, उसका बाहरी चाल-चलन उतना ही गम्भीर बनेगा; मुख से दूसरी बातें निकालेगा भी नहीं। परन्तु एक ओर मेरे मुख से धर्म-व्याख्या सुनकर उस देश के धर्मप्रचारक जैसे विस्मित होते थे, दूसरी ओर वक्तृता के अन्त में मुझको अपने मित्रों के साथ हास्य-कौतुक करते देखकर उससे कम आश्चर्यचकित नहीं होते थे। कभी-कभी तो उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा, "स्वामीजी, धर्मप्रचारक बनकर साधारण-जन के समान हास्य-कौतुक करना उचित नहीं। आप में ऐसी चपलता शोभा नहीं देती।" इसके उत्तर में मैं कहा करता था, "हम आनन्द की सन्तान हैं, हम उदास और दुखी बनकर क्यों रहें?" यह उत्तर सुनकर मुझे शंका है कि वे इसके मर्म को समझते थे या नहीं।[१७८]

मुझसे प्राय: पूछा जाता है, "आप इतना अधिक हँसते और व्यंग-विनोद क्यों करते हैं?" जब कभी पेट दर्द करने लगता है, तो कभी-कभी मैं गम्भीर हो जाता हूँ! ईश्वर केवल आनन्दपूर्ण है। सभी अस्तित्व के मूल में एकमात्र वही है, वही अखिल विश्व का अच्छाई है, सत्य है। तुम उसी के अवतार हो। यही गौरव की बात है। तुम उसके जितने अधिक निकट होओगे, तुम्हें उतना ही कम रोना-चिल्लाना पड़ेगा। उससे हम जितनी दूर होते हैं, उतना ही अधिक हमें कष्ट झेलने पड़ते हैं। हम जितना ही अधिक उसके विषय में जानते हैं, उतना ही दु:ख दूर होते जाते हैं। यदि प्रभु में डूबा रहनेवाला भी दुखी रहे, तो उसकी तल्लीनता से लाभ ही क्या? ऐसे ईश्वर का भला क्या उपयोग? उसे प्रशान्त महासागर में फेंक दो! हमें उसकी आवश्यकता नहीं![१७९]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१६४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ३८९; **१६५.** वही, खण्ड ५, पृ. ३९१-९२; **१६६.** वही, खण्ड ५, पृ. ३९३; **१६७.** वही, खण्ड ५, पृ. ४०४; **१६८.** वही, खण्ड ८, पृ. २८२; **१६९.** वही, खण्ड ६, पृ. ३४३; **१७०.** वही, खण्ड ४, पृ. २५०; **१७१.** वही, खण्ड ४, पृ. २५२; **१७२.** वही, खण्ड ८, पृ. १६२; **१७३.** वही, खण्ड ८, पृ. २४८; **१७४.** Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, Vol 3, p. 128-29; **१७५.** Reminiscences of Swami Vivekananda, Ed. 2004, पृ. २०५-०६; **१७६.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. १४९; **१७७.** वही, खण्ड ४, पृ. ३००; **१७८.** वही, खण्ड ६, पृ. २१; **१७९.** वही, खण्ड ९, पृ. ८७

भगवान साकार भी हैं और निराकार भी

ईश्वर साकार हैं, साथ ही निराकार भी। एक बार एक संन्यासी जगन्नाथ-मन्दिर में आया। जगन्नाथ जी की मूर्ति को देखते हुए वह मन-ही-मन तर्क करने लगा कि भगवान साकार हैं या निराकार। उसने अपनी लाठी को बायें से दायें घुमाया – यह देखने के लिए कि वह मूर्ति को स्पर्श करती है या नहीं। लाठी ने कुछ भी स्पर्श नहीं किया। उसने समझ लिया कि उसके सामने कोई मूर्ति नहीं है; और उसने निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर निराकार हैं। दूसरी बार लाठी को दायें से बायें घुमाया। इस बार लाठी ने मूर्ति का स्पर्श किया। संन्यासी ने समझ लिया कि ईश्वर के रूप भी हैं। इस प्रकार उसने अनुभव कर लिया कि ईश्वर साकार भी हैं और निराकार भी।

– *श्रीरामकृष्ण*

ईर्ष्या का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मनुष्य के अन्त:करण में एक ऐसी भी प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण वह दूसरों की सफलता देखकर अपने भीतर जलन का अनुभव करता है। इसे 'ईर्ष्या' कहकर पुकारा गया है। यह एक मानसिक रोग है, जो मनुष्य मन को सन्तप्त करता रहता है। शरीर को सन्तप्त करनेवाला रोग तो उपचार से ठीक हो जाता है, पर ईर्ष्या का उपचार सहज नहीं है। शरीर में ताप पैदा करनेवाले रोग को रोगी अनुभव करता है और इसके फलस्वरूप वह अपने को अस्वस्थ समझ उस रोग के उपचार के लिए स्वयं चेष्टाशील होता है। पर ईर्ष्या ऐसा रोग है कि रोगी अपने को अस्वस्थ ही अनुभव नहीं करता, फलत: उसे दूर करने की चेष्टा का उसमें सर्वथा अभाव होता है। यही उस रोग को विकट बना देता है। रोग को दूर करने के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं – एक तो यह अनुभव करना कि 'मैं रोगी हूँ' और दूसरी, उसे दूर करने के लिए चेष्टाशील होना। ईष्या-रोग से ग्रसित व्यक्ति में इन दोनों बातों का अभाव होता है।

ईष्यालु व्यक्ति जिससे ईर्ष्या करता है, उसके गुण भी उसे दुर्गुण प्रतीत होते हैं। उसकी अच्छाई भी उसे बुराई के रूप में भासित होती है। उसकी सफलता उसे असह्य हो जाती है। जहाँ लोग किसी व्यक्ति के गुण गाते हैं, वहाँ ईष्यालु उसके भीतर कालिमा ढूँढने की चेष्टा करता है। 'श्रीराम-चरित-मानस' में गोस्वामी तुलसीदास जी ने सिंहिका को ईर्ष्या के रूप में संकेतित किया है। हनुमानजी जब समुद्र-लंघन कर रहे हैं, तब सिंहिका दूसरी बाधा के रूप में उनके समक्ष आती है। उसका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं –

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई।
करि माया नभु के खग गहई।।
जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं।
जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं।।
गहइ छाहँ सक सो न उड़ाई।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई।।
सोइ छल हनुमान कहँ कीन्हा।
तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा।।
ताहि मारि मारुतसुत बीरा।
बारिधि पार गयउ मतिधीरा।।

सिंहिका ऊपर उड़कर जानेवालों की छाया पकड़कर नीचे खींचती है और उनका भक्षण करती है। यह सांकेतिक भाषा है। जो भी ऊपर उड़ते हैं, जिनकी ख्याति होती है, जो लोगों की दृष्टि में वरेण्य होते हैं; ईष्यालु व्यक्ति केवल उनमें छाया ही देखने की चेष्टा करता है, उनमें कालिमा ही ढूँढता है और उस कालिमा को पकड़कर उन्हें नीचे गिराकर उन्हें खाने में सुख का अनुभव करता है। हनुमानजी को लगा कि उनकी गति रुक रही है। वे तो भक्ति-स्वरूपा सीताजी की प्राप्ति के लिए अहंकार-समुद्र का लंघन कर रहे हैं। उन्हें लगता है कि कोई उन्हें आगे बढ़ने से रोक रहा है। वे तो साधक हैं, अत: अपने भीतर झाँकते हैं। उन्हें सिंहिका रूप ईर्ष्या-वृत्ति दिखाई पड़ती है। वे निर्भय होकर उसे नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार ईर्ष्या की बाधा को पार करते हैं।

ईर्ष्या और द्वेष का चोली-दामन का साथ है। दोनों में थोड़ा भेद है। ईर्ष्यालु व्यक्ति स्वयं जलता है, पर द्वेषी खुद तो जलता ही है, जिसके प्रति द्वेष करता है उसे भी जलाता है। 'द्वेष' शब्द का अर्थ ही है – जो दोनों ओर जलाए।

ईर्ष्या की प्रकृति बड़ी विचित्र है। सामान्यत: किसी को दु:खी देखकर हमें भी कष्ट का अनुभव होता है और किसी को सुखी देकर हम भी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं? पर ईर्ष्यालु के साथ इसके ठीक विपरीत होता है। वह किसी को दु:ख-कष्ट में पड़ा देखकर सुख का अनुभव करता है और किसी को सुखी देख दु:ख की ज्वाला में जलता है।

यह ईर्ष्या की मात्रा हम भारतीयों में अधिक है। स्वामी विवेकानन्द एक बार कह ही उठे थे, "ईर्ष्या ही हमारे दास-सुलभ राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है। औरों का तो क्या कहना, स्वयं सर्वशक्तिमान ईश्वर भी इस ईर्ष्या के कारण हमारा कुछ भला नहीं कर सकता ...।"

ईर्ष्या को दूर करने के लिए पहले हमें यह समझना होगा कि यह एक प्राणघाती रोग है। दूसरा कदम यह होगा कि जिस व्यक्ति के प्रति हम ईष्यालु हैं, उसके गुणों को बारम्बार अपने मन में बलपूर्वक उठाना होगा। तीसरा कदम यह होगा कि रोग की विभीषिका को समझकर हम उसके प्रति निर्मम हो जायँ। केवल इस प्रकार ही ईर्ष्या के परिणामों से बचा जा सकता है। ❑

❑ ❑
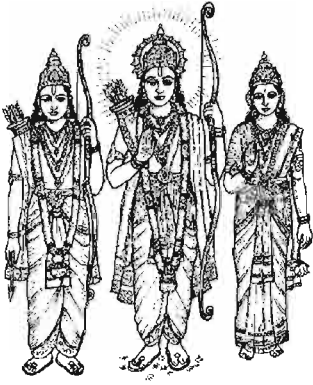
रामराज्य की भूमिका (७/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

श्रद्धेय स्वामीजी महाराज, समुपस्थित कथानुरागी बन्धुओ, भक्तिमती देवियो, आइए, रामराज्य की उस परम्परा क्रम पर आज भी दृष्टि डालने के लिए चेष्टा करें –

रामराज्य का तात्पर्य समाज की केवल बहिरंग उन्नति नहीं है। बहिरंग आवश्यकताओं की पूर्ति तो आवश्यक है ही, पर मनुष्य की मनुष्यता और परिपूर्णता केवल इतने में ही नहीं है कि उसके जीवन में भोगों की विशाल सामग्री एकत्र हो। व्यक्ति जब भावना यानी विचार के स्तर पर भी परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है, समाज जब अन्तरंग और बहिरंग – दोनों ही दृष्टियों से परिपूर्ण हो जाता है, तभी उसे उसका सर्वांगीण विकास कहकर उसे रामराज्य की संज्ञा दी जा सकती है।

रामराज्य की स्थापना में मन्थरा बाधक बनी, पर मन्थरा मात्र एक नारी पात्र ही नहीं है, यह मन्थरा हम सबके हृदय में विद्यमान है और विविध दृष्टियों से इसके भिन्न-भिन्न रूप सामने आते हैं। ज्ञानी तथा विचारक मन्थरा को भेदबुद्धि के रूप में देखते हैं और भक्त उन्हें संशयात्मिका वृत्ति के रूप में देखते हैं। कैकेयी के हृदय में श्रीराम के महानता के प्रति जो विश्वास और आस्था थी, उसमें मन्थरा ने संशय की सृष्टि की। यदि कैकेयीजी के हृदय में श्रीराम के प्रति विश्वास बना रहता और यदि वे मन्थरा से यह कह पातीं कि "सब कुछ बदल सकता है, पर श्रीराम का स्वभाव नहीं बदल सकता। तुम जो कुछ कह रही हो, वह राम के लिए सम्भव नहीं है" – तो शायद मन्थरा अपने प्रयत्न में असफल हो जाती।

भक्त यह मानते हैं कि हमारे जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं और बार-बार आती हैं। पर संशय की स्थिति आने पर भी, समस्त प्रतिकूलताओं के होते हुए भी, यदि ईश्वर के प्रति हमारा विश्वास दृढ़ बना रहे, तो सब कुछ मिट जाने पर भी, यह विश्वास हमारी रक्षा करने में सक्षम होता है। पर यदि सारे सद्गुणों के रहते हुए भी, यदि विश्वास दृढ़ न हो, तो सारे सद्गुण मिलकर भी हमारी रक्षा नहीं कर सकेंगे। भक्तों की दृष्टि में सबसे अधिक महत्त्व विश्वास का है। क्योंकि जहाँ भी भक्ति की व्याख्या की गई, वहाँ बार-बार विश्वास पर जोर दिया गया। आपने वह दोहा पढ़ा होगा –

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु।। ७/९०

यहाँ स्पष्ट रूप से घोषित किया गया कि बिना विश्वास के भक्ति नहीं हो सकती। संसार में बहुत से भक्त दिखाई देते हैं, पर उत्तरकाण्ड में कहा गया कि जिसे सच्ची भक्ति कही जा सके, वह तो बिरले व्यक्ति के अन्त:करण में ही होती है।

बड़ा प्रसिद्ध दोहा है – वर्षा ऋतु में जब वर्षा होती है, तो जहाँ देखिए वहीं नदी, नाले, तालाब, यहाँ तक कि सड़कों के किनारे के नाले भी उफनते हुए दिखाई देते हैं और चारों ओर जल-ही-जल दिखाई देता है। किन्तु इस जल की वास्तविकता की परीक्षा कब होती है? – जब ग्रीष्म ऋतु का आगमन होता है और सूर्य की किरणों के द्वारा ताप की सृष्टि होती है, तब अधिकांश जल सूख जाता है। जहाँ का जल सूर्य की उष्मा के बाद भी बचा रहता है, वहीं पर हम स्वीकार करते हैं कि यहाँ का जल कभी न समाप्त होने वाला जल है। इसलिए दिखाई देने वाली भक्तों की जो संख्या है, उसकी तुलना, बरसाती नदी, पहाड़ी नदी से की गई –

भक्ति भाव भादव नदी सबै चली घहराय।
सरिता वही सराहिये, जो जेठ मास ठहराय।।

जब हमारी कामनाएँ पूर्ण हो रही हैं, हमारे संकल्प पूरे हो रहे हैं, हमारी आकांक्षायें पूरी हो रही हैं, तो ऐसी अनुकूलता में भगवान की जो भक्ति की जाती है, ऐसी परिस्थिति में यदि हम कहें कि हम भगवान के भक्त हैं, उन्हें देखकर लोगों को यह लगे कि ये तो बड़े भक्त हैं – तो यह वास्तविक परीक्षा नहीं है। विश्वास की वास्तविक परीक्षा तो ग्रीष्म ऋतु में होती है, जब हमारे जीवन में प्रतिकूलता हो, जब हमारे जीवन में पराजय हो, असफलता हो, तब ऐसी परिस्थिति में भी हमारा विश्वास दृढ़ है या नहीं? इसीलिए रामचरित-मानस में विश्वास की तुलना अक्षय वट से की गई।

आपने वह प्रसिद्ध कथा सुनी होगी। महर्षि मार्कण्डेय के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि जिस प्रलय का वर्णन पुराणों में किया गया है, मैं उसे देखूँ। उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की कि मैं प्रलय देखना चाहता हूँ। भगवान विष्णु बोले कि यथासमय अपने आप प्रलय होगा और आपकी आयु तो बड़ी लम्बी है, देख लीजिएगा। मार्कण्डेय ने कहा – उस प्रलय में देखना

क्या होगा? तब तो सब कुछ समाप्त हो जायेगा, मेरी सत्ता भी समाप्त हो जायगी, तो उसे देखने का कोई लाभ मुझे नहीं मिल सकता। देखने की सार्थकता तो तभी है, जब हम अपने जीवन में ही प्रलय देख सकें।

प्रलय के वर्णन का क्या तात्पर्य है? यदि सृष्टि का उद्भव सत्य है, सृष्टि की स्थिति सत्य है, तो इसका प्रलय भी उतना ही सत्य है। इसका अनुभव हर व्यक्ति के जीवन में व्यक्तिगत रूप से आता ही है। व्यक्ति का जन्म होता है, फिर वह युवा होता है, आगे की ओर बढ़ता है और उसकी अन्तिम परिणति मृत्यु के रूप में भी होती है। ऐसी स्थिति में, जो जीवन को उसकी परिपूर्णता में देखना चाहता है, उसे तीनों ही स्थितियों में ईश्वर का साक्षात्कार करना होगा – उद्भव में, स्थिति में और विनाश में। जैसे प्रलय एक व्यक्ति के जीवन में मृत्यु के रूप में आता है, वैसे ही जिस संसार का निर्माण हुआ है, उसका विनाश भी अवश्यभावी है – इस सत्य को पुराणों ने बारम्बार स्पष्ट किया। प्रलय के वर्णन का उद्देश्य व्यक्ति को डराना नहीं है। मृत्यु और प्रलय को हमारे हृदय में भय की सृष्टि नहीं करनी चाहिये, जैसा कि अधिकांश लोगों के जीवन में दिखाई देता है। मृत्यु आने के पहले से ही हम मृत्यु के भय से, मृत्यु के आतंक से आतंकित हो जाते हैं। जब प्रलय का वर्णन पढ़ते हैं या जब संवाद-पत्रों में लेख आता है कि इस दिन संसार का विनाश हो जायगा, तो उसे पढ़कर हमारे मन में आतंक एवं भय उत्पन्न होता है। वस्तुत: यह मृत्यु एवं प्रलय को सही दृष्टि से न देखने का परिणाम है।

आप गीता पढ़ते और सुनते होंगे। भगवान ने जब युद्धक्षेत्र में अर्जुन के सामने अपना विराट् रूप प्रगट किया, तो उसमें अर्जुन ने देखा कि सारे योद्धा मरे पड़े हैं और भगवान के अंगों से अनगिनत सूर्यों का प्रकाश निकल रहा है। ऐसा दृश्य देखकर एक बार अर्जुन के हृदय में भी भय का संचार हो गया। अत: भय की वृत्ति भी स्वाभाविक वृत्ति है। लेकिन भगवान के इस रूप को देखकर अगले ही क्षण अर्जुन के मन में जिज्ञासा का उदय हुआ। भगवान का एक रूप वह था, जब वे सारथी के रूप में अर्जुन का रथ हाँक रहे थे और उनका दूसरा रूप वह था जो बड़ा उग्र, बड़ा भयावना था। अर्जुन ने चकित होकर भगवान से पूछा – आप कौन हैं। मैं आपका यह विलक्षण रूप देख रहा हूँ। आप अपना परिचय दीजिए। तब भगवान अपना परिचय देते हुए कहते हैं –

कालोऽस्मि लोकक्षय-कृत्प्रवृद्धो...। गीता, ११/३२

मैं साक्षात् काल हूँ और लोक का विनाश करने के लिये तुला हूँ। अर्जुन को भगवान कृष्ण ने अपना मधुर रूप का भी साक्षात्कार कराया, और आगे चलकर भी अर्जुन ने भगवान से यही प्रार्थना की – महाराज, अब आप इस स्वरूप को समेट लीजिए और कृपा करके पुन: उसी रूप में दर्शन दीजिये –

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।। वही, ११/४६

भगवान ने बाद में अर्जुन को उसी रूप में दर्शन दिया। परन्तु भगवान ने अर्जुन को काल के रूप में अपना परिचय क्यों दिया? भगवान उन्हें बताना चाहते थे कि मेरा एक रूप वह भी है और एक रूप यह भी है। प्रयत्न करने पर भी यदि युद्ध नहीं रुक रहा है, तो समझ लो कि इस समय मैं काल के रूप में ही उस सृष्टि के विलय के लिए तुला हुआ हूँ। जब हम भगवान की भक्ति करें, तो उनके समस्त रूपों को जीवन में स्वीकार करें। वे सारथी भी हैं और साक्षात् काल भी हैं।

कभी-कभी जब किसी की मृत्यु से रक्षा हो जाती है, तो समाचार-पत्रों में मुख्य रूप से यही शीर्षक दिया जाता है कि मारनेवाले से बचानेवाला बड़ा है। पर यह पूरा सत्य नहीं है। मानस में इसे दूसरे रूप में कहा गया है। कहा गया कि मारने-वाले और बचानेवाले, दोनों यदि भिन्न-भिन्न होते, तो हम कहते कि मारनेवाले से बचानेवाला बड़ा है, किन्तु मारीच ने रावण से भगवान के विषय में कहा – उनसे वैर मत कीजिये, उन्हीं के मारने से मरना और जिलाने से जीना होता है –

तासों तात बयरु नहिं कीजै।
मारें मरिअ जिआएँ जीजै ।। ३/२५/४

वस्तुत: जीवन और मृत्यु के नियामक वे ही हैं, अत: उन्हीं की इच्छा में अपने आप को पूरी तौर से समर्पित कर दीजिये। रावण को यही सन्देश मन्दोदरी भी देती है।

यदि हम प्रतिकूलता को प्रतिकूलता के रूप में लेंगे, तो हमारा आतंक और भय बढ़ता जायगा। परन्तु यदि हम उसे भगवान से जोड़कर देखेंगे, तो प्रतिकूलता दिखाई देने के बाद भी हमारा दृष्टिकोण, हमारी प्रतिक्रिया पूर्णत: भिन्न होगी। जैसे आपके सामने आपका प्रिय बालक मुख पर कोई नकली राक्षस का मुखौटा लगाकर आ जाय, तो उसकी आकृति तो राक्षस के रूप में भयावनी ही दिखाई दे रही है, पर आप उस रूप को भी देखकर मुस्कुराते हैं, क्योंकि आप जानते हैं कि उस मुखौटे की आड़ में हमारा प्रिय बालक है। इसी प्रकार जीवन और मृत्यु के सारे सन्दर्भों में यदि हम ईश्वर को देख सकें, तभी हमारी भक्ति नित्य और सार्थक रहेगी।

इसलिए प्रलय केवल आँखों से ही नहीं देखा जाता है। जब आप प्रलय के विषय में सुनते हैं, तो आपके मनश्चक्षुओं के सामने प्रलय का एक रूप साकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस दृश्य से हमारे अन्त:करण में भय के साथ-साथ वैराग्य हो; और वैराग्य के साथ-साथ भगवान के प्रति हमारी आस्था दृढ़ बनी रहे कि परिस्थिति चाहे जो भी हो, सबके पीछे भगवान ही विद्यमान हैं। तो इसका परिणाम यह होगा कि हमारी भक्ति सुदृढ़ रहेगी। इसलिए मार्कण्डेय ने

ऐसी आकांक्षा प्रकट की। गोस्वामीजी ने महर्षि मार्कण्डेय की तुलना ज्ञान से की है – चिरजीवी मुनि मानो ज्ञान है –

चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु ।। २/२८६/७

ज्ञानमय मार्कण्डेय के अन्त:करण में प्रलय को समझने की जिज्ञासा है। भगवान ने अपनी विलक्षण मायाशक्ति के द्वारा प्रलय के एक अद्भुत दृश्य की सृष्टि कर दी। उस समय मार्कण्डेय ऋषि तीर्थराज प्रयाग में स्नान कर रहे थे। सहसा समुद्र उमड़ने लगा, संसार की वस्तुएँ डूबने लगीं और चारों ओर एक ही स्वर गूँजने लगा कि प्रलय का समय आ गया। मार्कण्डेय जी उस दृश्य को देखकर भयभीत हो गये। क्षण भर के लिये वे भी डूबने-से लगे। किन्तु अगले ही क्षण उन्होंने देखा कि उस विशाल समुद्र में एक वृक्ष ऊपर की ओर बढ़ रहा है। दूसरा आश्चर्य उन्होंने देखा कि उस वृक्ष के एक पत्ते पर एक नन्हा सा बालक मुस्कराता हुआ, अपने पाँव के अँगूठे को चूसता लेटा हुआ है। इतना ही नहीं, उस बालक ने डूबते हुए मार्कण्डेय की ओर अपना हाथ बढ़ाया और मार्कण्डेय उस नन्हें बालक का हाथ पकड़कर बच जाते हैं। उसी समय प्रलय का दृश्य समाप्त हो जाता है। भगवान ने मार्कण्डेय से कहा – तुम प्रलय देखना चाहते थे, मैंने तुम्हें प्रलय का दृश्य दिखा दिया। ऋषि बोले – कृपया इसकी व्याख्या भी तो कर दीजिए। सब डूबने पर भी एक वृक्ष नहीं डूबा। उसके पत्ते पर आप स्वयं एक बालक के रूप में विद्यमान थे और आपने मुझे बचा लिया। इसका क्या अर्थ है? भगवान बोले – प्रलय या विनाश वस्तुत: जीवन में आने वाली प्रतिकूलता है। जो वृक्ष उस विनाश की बेला में ऊपर की ओर उठ रहा था, वह विश्वास है। बोले – प्रतिकूलता में हमारी भक्ति की कसौटी यही है कि हमारा विश्वास घट रहा है या बढ़ रहा है? हमारा विश्वास उस प्रतिकूलता में ऊपर की ओर उठ रहा है या वह भी प्रतिकूलता में डूब रहा है, विनाश की ओर जा रहा है। – किन्तु महाराज, आप तो मुझे अलग से भी बचा सकते थे, पर आपने अपने आसन के लिए वट का पत्ता ही क्यों चुना? भगवान बोले – वट का वह पत्ता ही प्रेम है, जो विश्वास की उपज है। विश्वास और प्रेम एक दूसरे से अभिन्न हैं। बोले – जब प्रतिकूलता आती है, तो ईश्वर भी विश्वास के सहारे बचता है। यदि विश्वास न हो, तो ईश्वर भी डूब जायगा।

महाराज जनक के सन्दर्भ में रामायण में इसकी एक सांकेतिक व्याख्या की गई और कहा गया कि भगवान ने बालक के रूप में – अर्थात् प्रेम के रूप में दर्शन दिया –

ता पर राम पेम सिसु सोहा ।। २/२८६/६

मार्कण्डेय वृद्ध ज्ञान हैं और भगवान ने उन ज्ञान को प्रेम के रूप में दर्शन दिया। तो ज्ञान वृद्ध है और प्रेम बालक है, यह सांकेतिक भाषा है। ज्ञान में जब परिपक्वता आये, तब उसकी प्रशंसा की जाती है। जैसे वृद्धावस्था में व्यक्ति के केश पक जाते हैं, वैसे ही मस्तिष्क में ज्ञान परिपक्व हो जाना चाहिये, इसीलिए ज्ञान की तुलना वृद्ध से की गई। और प्रेम की तुलना बालक से की गई। वृद्ध को आगे नहीं बढ़ना है अर्थात् ज्ञान में घटना-बढ़ना नहीं है। वह तो एकरस है। प्रेम बालक है। प्रेम की शोभा एकरसता में नहीं, बालक के समान उसके बढ़ते जाने में है। यदि प्रेम भी ज्ञान की तरह एकरस हो, तो वह प्रेम की परिपूर्णता नहीं है। नारदजी ने भक्तिसूत्र में प्रेम की व्याख्या करते हुए एक वाक्य लिखा – प्रेम का स्वरूप यह है कि जो प्रतिक्षण बढ़ता ही जाय –

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण-वर्धमानम् ... ।। (५४)

भक्त के पास ऐसी कला होना चाहिए, जिससे वह व्यवहार के क्षेत्र में समस्याओं का समाधान कर सके। भगवान यही पक्ष हमारे सामने रखते हैं। दण्डकारण्य मन की भूमि है –

दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन ।
जन मन अमित नाम किए पावन ।। १/२४/७

दण्डक वन जीव का मन है और इस दण्डक वन में खर-दूषण हैं, त्रिशिरा है और सूर्पणखा है। फिर इसी मन के दण्डक वन में शबरी और अगस्त्य मुनि भी हैं। यही हमारे आपके मन का सत्य है। शबरी भी यही हैं और सूर्पणखा भी यहीं हैं। शबरी मूर्तिमती भावना है और सूर्पणखा मूर्तिमती वासना है। मन में एक ओर वासना है, तो दूसरी ओर भावना है। मन में एक ओर अगस्त्य हैं, जो बड़े विवेकी हैं, तो दूसरी ओर खर-दूषण तथा त्रिसिरा के रूप में दुर्वृत्तियाँ विद्यमान हैं। भगवान वहाँ प्रवेश करते हैं और वासना-रूपी सूर्पणखा को माध्यम बनाकर असुरों को चुनौती देते हैं। फिर वहाँ संघर्ष शुरू होता है। तब पता चलता है कि इस दण्डकारण्य की समस्याओं का मूलकेन्द्र लंका से – अहंकार से जुड़ा हुआ है। जब तक अहंकार के राज्य पर विजय नहीं प्राप्त होगी, तब तक रावण का विनाश नहीं होगा।

इस प्रकार एक ओर भगवान राम के चरित्र के द्वारा रामराज्य की स्थापना होती है। रामराज्य की व्याख्या यदि पूरी तौर से करने बैठें, तो कितना समय लगेगा? आदरणीय स्वामीजी महाराज ने कहलवाया कि कोई जल्दी नहीं है। यह उनकी उदारता है। परन्तु यदि मैं रामायण के आदि से लेकर अन्त तक कथा कहूँ, तो वह कितने वर्षों में पूरी होगी, इसका मुझे कोई परिज्ञान नहीं है। पूरे रामचरित-मानस का साधनक्रम रामराज्य से जुड़ा हुआ है।

दण्डकारण्य में आनेवाली सारी समस्याएँ, उन सबका समाधान, उसके बाद भगवान राम का लंका के अहंकार-दुर्ग पर आक्रमण और वहाँ काम, अहंकार और मोह का विध्वंस – यह ईश्वर की यात्रा का एक पक्ष चल रहा है। इसमें एक ओर अवतारवाद की भूमिका भगवान की है और दूसरी ओर

साधक की भूमिका भरतजी की है। भरतजी की यात्रा अयोध्या से चित्रकूट की – बुद्धि से चित्त तक की यात्रा है। मन और अहंकार की समस्या स्वयं भरतजी के जीवन में नहीं है और उनकी इस यात्रा में मन्थरा द्वारा जो-जो समस्याएँ पैदा की गयीं, इन सबका समाधान भरतजी की इस यात्रा में मिलता है। भेदबुद्धि का उत्तर, संशयात्मिका बुद्धि का उत्तर, लोभवृत्ति का उत्तर – यही भरतजी की यात्रा है।

फिर यदि आप रामराज्य का समाजिक दर्शन जानना चाहें, तो इसी यात्रा में आपको उसके सारे सूत्र मिल जायेंगे। यदि हम भगवान राम की यात्रा को पूरी तरह से पढ़ लें और उसी सन्दर्भ में श्रीभरत की यात्रा पर दृष्टि डालने की चेष्टा करें, तो रामराज्य की स्थापना का क्रम हमारे सामने स्पष्ट हो उठेगा। रामराज्य की एक भूमिका ईश्वरीय है, तो इसका दूसरा पक्ष सामाजिक है। यदि आप ध्यान देंगे, तो भगवान श्रीराम की इस यात्रा में, उनके सामाजिक दर्शन – लोक-दर्शन का पक्ष भी आपके समक्ष प्रगट हो जाता है। रामराज्य किसके लिए है? भगवान राम की यात्रा में आप पढ़ते हैं कि वे महर्षि भरद्वाज तथा वाल्मीकि के आश्रमों में गये; और उसके साथ ही जब आप पढ़ते हैं कि उनकी निषाद से मित्रता हुई, उन्होंने कोल-किरातों को पुत्र के रूप में स्वीकार किया, तो यही रामराज्य का सामाजिक पक्ष है। गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका में सूत्र दिया भगवान राम के इस सामाजिक सन्दर्भ में भी बड़ा उपयोगी है। वे बोले – प्रभो, आपका एक स्वभाव है। – क्या? – आप दो बातों को दूर कर देते हैं। – वे दो बातें क्या हैं? बोले – आप बड़े के बड़प्पन का अभिमान और छोटे की हीनता की वृत्ति को दूर कर देते हैं –

बड़े की बड़ाई छोटे की छुटाई दूरि करै ।। १८३

बड़ा विचित्र सूत्र है। आज भी है। जो बेचारा लघु होता है, उसमें या तो हीनता की वृत्ति हो, और या उसे प्रेरित किया जाय, उत्तेजित किया जाय, तो संघर्ष की वृत्ति पैदा होगी। और जो बड़ा व्यक्ति है, उसमें अपनी समृद्धि का, अपनी योग्यता का, अपनी बुद्धिमता का, अपने पद का अभिमान होता है। जब तक ये दोनों वर्ग – बड़े और छोटे – बने हुए हैं, तब तक संघर्ष को रोका ही नहीं जा सकता। बड़े और छोटे जरूर टकरायेंगे। गोस्वामीजी ने एक बहुत बढ़िया सूत्र दिया। मैं उसे किसी वाक्य के सन्दर्भ में नहीं रखता। उन पंक्तियों को मैं निर्विवाद रूप में केवल रख देता हूँ। यह किस मान्यता से जुड़ी हुई है इसे आप स्वयं ढूढ़िए। गोस्वामीजी ने कह दिया – रामराज्य में बैर बिल्कुल समाप्त हो गया था, कोई किसी से बैर नहीं करता था। कोई बोला – यह तो ईश्वर का चमत्कार हुआ। गोस्वामीजी बोले – ईश्वर ने इसको व्यक्ति की तरह दूर किया। – कैसे? कोई किसी से बैर क्यों नहीं करता? तो इसका उत्तर अगली पंक्ति में है – जब तक विषमता रहेगी, तब तक बैर रहेगा। रामराज्य में विषमता मिट गई, इसलिए बैर मिट गया –

बयरु न कर काहू सन कोई ।
राम प्रताप बिषमता खोई ।। ७/८/२०

यह बड़े महत्त्व की बात है। इसका अभिप्राय है कि बड़े में जब तक बड़प्पन का अभिमान रहेगा और छोटे को उसकी हीनता की वृत्ति के कारण दबाए जाने की चेष्टा की जायगी, तब तक रामराज्य की स्थापना नहीं होगी। भगवान राम की सामाजिक यात्रा और भरतजी के द्वारा उस यात्रा को विस्तार देना – यह एक सामाजिक पक्ष की भूमि है। भगवान श्रीराम महर्षि भरद्वाज के आश्रम में बाद में जाते हैं। उसके पहले जब वे शृंगवेरपुर जाते हैं और वहाँ निषादराज से मिलते हैं, तो इसका क्या तात्पर्य है? महर्षि भरद्वाज और निषाद समाज के दो अलग-अलग पक्ष हैं। महर्षि भरद्वाज समाज के सबसे उच्च वर्ग या वर्ण में हैं और निषाद उस समय की सामाजिक मान्यता के अनुसार सबसे नीचे हैं। जब कभी यह बात सामने आती है कि रामायण में शूद्रों का विरोध है या तुलसीदास शूद्र-विरोधी थे, तो मैं थोड़ा चकित होता हूँ कि वे लोग केवल कुछ पंक्तियों को ही उद्धृत करते हैं, उनके चरित्र को नहीं देखते। आप श्रीराम के विचारों की व्याख्या केवल एक पंक्ति के आधार पर करेंगे या उनके समग्र जीवन के आधार पर? यदि श्रीराम की उक्ति और उनके आचरण में भिन्नता है, तो आप कह लीजिए कि वे कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। और यदि आप ऐसा नहीं मानते, तो उस पंक्ति को सन्दर्भ से जोड़िए। स्वयं श्रीराम की मान्यता कौन-सी है? वे शूद्र को किस दृष्टि से देखते हैं?

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी ।
सकल ताड़ना के अधिकारी ।। ५/५९/६

इस पंक्ति को तो सुनते-सुनते मैं ऊब गया हूँ। जिन्होंने कभी रामायण नहीं पढ़ी है, वे भी यह चौपाई जरूर दुहरा देते हैं कि तुलसीदास जी ने ऐसा क्यों लिख दिया। कह देते हैं कि तुलसीदास तो शूद्र को ताड़ना का अधिकारी बताते हैं। यदि ऐसी बात है, तो भगवान राम को तो सबसे पहले निषाद से ही इसे क्रियान्वित करना चाहिए था। भगवान राम की ताड़ना तो वहीं से शुरू हो जाना चाहिए था। ऐसा सोचना क्या ठीक है? कितना मधुर, कितना सरस, कितना विलक्षण प्रसंग है यह! गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब निषाद को भगवान श्रीराम के आगमन का समाचार मिला, तो भगवान का स्वागत करने के लिए वे कितनी उदात्त वृत्ति के साथ उपहार लेकर निकले और लाकर भगवान के सामने फल रख दिये। अब हमारे जीवन का विरोधाभास यह होता है कि हम वस्तु को तो अपवित्र नहीं मानते हैं, पर लाने वाले को अपवित्र मानते हैं। यह बड़ी विचित्र बात है। वस्तु तो

ठीक है, पर उसे छूनेवाला अपवित्र है। तो निषादराज भेंट लेकर भगवान के सामने आये और भगवान ने उनसे कैसा व्यवहार किया? उन्होंने उठकर निषादराज का हाथ पकड़कर अपने पास बिठा लिया और बड़े स्नेह से पूछने लगे – मित्र निषाद, तुम कुशल से तो हो? –

सहज सनेह बिबस रघुराई।
पूँछी कुसल निकट बैठाई ।। २/८८/४

उन्होंने निषादराज की पूजा भले ही न की हो, पर भगवान ने उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। निषाद और भगवान राम का संवाद भी देखने योग्य है। निषाद ने जब उनसे से चलने का अनुरोध किया, तो क्या कहा? वैसे परम्परा यह है कि किसी बड़े व्यक्ति को अपने घर में ले जाना हो, तो कहते हैं मेरी कुटिया में चलिए। पर निषाद बड़ा विचित्र है। भगवान से यह नहीं कहता कि मेरे गाँव में चलिए; और बढ़ाकर कहता है – कृपा करके आप मेरे पुर में चलिए –

कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ ।। २/८७/७

निषाद से अगर कोई पूछे कि भलेमानुष, तुम एक छोटे-से गाँव के रहनेवाले, तुम्हारा यह गाँव पुर कैसे हो गया? इसका श्रृंगवेरपुर नाम वस्तुतः बाद में पड़ा हुआ नाम है। वह सिंघरौल नाम का एक छोटा-सा गाँव ही था। उसे साधारणतया लोग सिंघरौल ही कहते हैं। वह उत्तर प्रदेश में एक छोटा-सा गाँव है। तो श्रृंगवेरपुर मानो निषाद के भाव की रक्षा है। निषाद के भाव की रक्षा क्या है? निषाद से यदि कोई पूछे कि तुम गाँव के रहनेवाले होकर इसे पुर क्यों कहते हो? प्रभु जहाँ से आये हैं वह तो पुर है – अयोध्यापुरी। तुम्हारा सिंघरौल तो छोटा-सा गाँव है। निषाद बोला – पुर की यह परिभाषा मैं बिल्कुल नहीं मानता। निषाद की भावना सुमित्रा माता से जुड़ी हुई है। सुमित्रा अम्बा ने लक्ष्मणजी को मंत्र दे दिया था – राम यदि तुम्हें आज्ञा दें कि तुम अयोध्या में रहो, तो कह देना कि मैं अयोध्या में तो रहूँगा, पर पहले अयोध्या की परिभाषा निश्चित हो जाय कि वह कहाँ है? सुमित्रा अम्बा ने कह दिया कि भूगोल में अयोध्या को जहाँ पर बताया है, उसका महत्त्व मेरी दृष्टि में नहीं है। उन्होंने सूत्र दिया – जहाँ सूर्य है, वहीं प्रकाश है। जहाँ राम हैं, वही अयोध्या है –

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू ।। २/७४/१

निषाद का भाव क्या था? – अयोध्या कभी पुर रहा होगा, परन्तु जब उसने राम को देश-निकाला दे दिया, तब वहाँ कुछ भी नहीं रह गया। और जब वे हमारे गाँव में चलेंगे, तो हम तो पहले से ही मानते हैं कि श्रीराम जहाँ रहेंगे, वहीं पुर होगा। अतः वस्तुतः पुर तो श्रृंगवेरपुर ही है। यह नया आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। अपने छोटे से गाँव की, वह हीनता की वृत्ति कैसे मिट गई।

निषादराज के निमंत्रण के उत्तर में प्रभु ने कहा – "मित्र, तुम तो मित्र जैसी बात कह रहे हो, मित्र संकट के अवसर पर मित्र का सहायक होता है। तुम्हें लगा होगा कि मैं संकट में हूँ, मेरे पास घर-बार नहीं है, तो तुम निमंत्रण दे रहे हो, यह तुम्हारी बड़ी उदारता है।" इस पर निषादराज की हीन भावना मिट गई, पर मिथ्याभिमान नहीं गया। निषादराज ने बड़ी मीठी बात कही, बोले – महाराज, आपको ले चलने में मेरा कुछ अपना निजी स्वार्थ है। – क्या? निषादराज के शब्द – वहाँ इस दास की स्थापना कीजिये, ताकि सब लोग मेरे भाग्य की सराहना करें –

थापिअ जनु सबु लोग सिहाऊ ।। २/८७/७

स्थापना शब्द आपने भी सुना होगा। मन्दिर में जब किसी मूर्ति की स्थापना की जाती है, तो उसके पहले वह क्या होती है? – पत्थर का टुकड़ा मात्र। जब तक वह पत्थर के टुकड़े के रूप में है, तब तक उस पर पैर रखने में या इधर से उधर फेंक देने में किसी व्यक्ति को संकोच नहीं होता। पर उसी पत्थर के टुकड़े को किसी शिल्पी या मूर्तिकार ने आकार दे दिया और वह देवता की आकृति बन गई, तो है अब भी वह पत्थर ही, परन्तु जब मन्दिर में उसकी स्थापना कर दी गई, तो न जाने कितने व्यक्ति आकर उस मूर्ति के सामने साष्टांग प्रणाम करते हैं। निषादराज का अभिप्राय था कि मैं भी समाज का एक ठुकराया हुआ पत्थर का टुकड़ा ही हूँ। मैंने सोचा कि बहुत बढ़िया अवसर है कि आप मेरी भी स्थापना कर दीजिए। मूर्तियों की स्थापना तो बहुत-से लोग करते हैं, पर जो व्यक्ति समाज द्वारा इस तरह ठुकराया हुआ है, उसकी स्थापना कर दीजिये। – तुम्हारी स्थापना कर देने से क्या होगा? बोले – अभी जो मुझे स्पर्श करने में घबराते हैं, तब वे भी मेरी सराहना, वन्दना और पूजा करेंगे। मैं तो अपने ही सम्मान को बढ़ाने के लिए आपको निमंत्रण दे रहा हूँ। सुनकर प्रभु ने कहा – हे सुजान सखा, तुमने जो कुछ कहा, सब सत्य है, पर पिताजी ने मुझे कुछ और ही आज्ञा दी है –

कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना।
मोहि दीन्ह पितु आयसु आना ।। २/८८/८

भगवान श्रीराघवेन्द्र उसे सेवक कहकर नहीं पुकारते, मित्र कहकर सम्बोधित करते हैं, बराबरी का सम्मान देते हैं। कहते हैं – मैं स्थापना करूँ, तो शायद तुम्हारी उतनी पूजा न हो, जितनी तुम्हारे मन में कल्पना है। प्रभु चाहते हैं कि इसकी स्थापना भरत के द्वारा हो। ❖ **(क्रमशः)** ❖

सारगाछी की स्मृतियाँ (९)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

१५-५-१९५९

सेवक – दुखपूर्वक त्याग करना अच्छा है या भोग करके मिटा देना अच्छा है?

महाराज – यदि कोई क्रम-विकास के अंतिम स्तर पर पहुँच चुका हो, तो फिर उसे ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। किन्तु ऐसा नहीं होने से मन्दिर बनवाना, भवन-निर्माण करना, छात्रावास बनाना, परोपकार, जगत् उद्धार करते-करते ही प्राण चला जायेगा। पिता लड़के को लेकर प्रदर्शनी देखने गये हैं। लड़के का चेहरा धूप में लाल हो गया है, बूँद-बूँद करके पसीना गिर रहा है। पिता ने लड़के को कहा – 'चलो, चलो वापस चलते हैं, लड़के ने कहा – 'नहीं पिताजी, उधर तो देखना नहीं हुआ, देख कर जायेंगे।' पिता लड़के को जबरदस्ती वापस लेकर चले आये, किन्तु दोपहर में पिता जब सो रहे थे, तब वह चुपचाप आकर बचा हुआ अंश देखकर चला गया। इसलिये भोग समाप्त नहीं होने से होने वाला नहीं है।

हमारे सामने ईश्वरीय बातें छोड़कर अन्य कोई प्रसंग नहीं उठाना, मुझे बड़ा दुख होता है। तो फिर क्या करोगे? बहुत-सी चर्चायें तो आवश्यक हैं अपने व्यक्तिगत खाना-रहना, चलने-फिरने के सम्बन्ध में भी तो जानना जरूरी है।

जैसे ठाकुर जी के उनके, उनके पार्षद हैं, वैसे ही हमलोग भी उनकी इच्छा से पार्षद होकर जन्म ले सकते हैं। इस बार साधना करके आगे बढ़े, हमलोग जीव से ईश्वरत्व में पहुँचेंगे। जो लोग जीवनमुक्त हैं, वे लोग आनन्दमय कोष में रहते हैं। ईश्वर की इच्छा से वे लोग उनके लीला-सहचर हो सकते हैं। ढाका (वर्तमान बांग्लादेश की राजधानी) के तारक नामक एक व्यक्ति ने श्रीमाँ को लिखा था – 'माँ' इस बार तो तुम्हारी लीला कुछ भी नहीं देख सका, किन्तु अगली बार देख सकूँ।' माँ ने लिखा था – 'ठीक है बेटा, वैसा ही होगा।' किन्तु, मैं तो लीला नहीं देखना चाहता हूँ। क्योंकि वहाँ केवल आनन्द है।'' परन्तु यहाँ सुख-दु:ख, आनन्द और निरानन्द दोनों का ही भोग करना होगा।

१६-५-१९५९

जिन लोगों ने वर्तमान सारगाछी को देखा है, वे लोग कल्पना भी नहीं कर पायेंगे कि उस समय वहाँ का वातावरण कैसा शुष्क था। ग्रीष्म ऋतु की गरमी से चारों ओर लगता था, जैसे आग जल रही है। उस समय फाराक्का बाँध भी नहीं बना था। बिजली भी नहीं थी, जिससे पम्प चलाकर खेत में पानी आयेगा। प्रेमेशानन्द जी महाराज शाम को टहलने के बाद आकर बरामदा में आराम-कुर्सी (ईजी-चेयर) में बैठे हैं। बहुत दिनों बाद बहुत पैदल चले हैं। महाराज जी बैठकर पैर मोड़कर रखे हुये हैं।

एक व्यक्ति ने कहा – हाँ, ऐसा पैर रखने से बहुत आराम मिलेगा।

महाराज – देह, मन और बुद्धि के परे नहीं जाने से आराम नहीं है। अभी तो शरीर स्वस्थ हुआ, पर उससे हुआ क्या? फिर व्याधि, फिर आराम। इसके पार जाने से ही शांति मिलेगी। जितनी बातें करोगे, सभी ईश्वरीय बातें करोगे, दूसरी बातें करने पर भी पुन: ईश्वरीय चर्चा में वापस आ जाना। साधारण लोगों के साथ ईश्वरीय चर्चा करना बहुत कठिन है। यह डॉक्टर, जो इतना विद्वान है, वह भी कहता है कहीं सिनेमा में देखा है कि द्वारका में श्रीराधाजी श्रीकृष्ण में विलीन हो गयीं! ईश्वर क्या वस्तु है, उसे वे लोग कैसे जानेंगे? यह पंचभूतों का शरीर तो विलीन नहीं होता। हमलोग बाल्यकाल से ही चैतन्य देव के सम्बन्ध में सुनते आये हैं कि वे प्रभु जगन्नाथ जी के साथ विलीन हो गये। पर बाद में पता चला कि उन्होंने सेपटिक होने से देहत्याग किया। उनका 'मैं' समष्टि के साथ मिलकर एकाकार हो गया। किन्तु साधारण लोगों को समझाने के लिये शरीर को छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। ईश्वर को प्राप्त करना कठिन कार्य है, इसे समझाने के लिये कहना पड़ता है – दस हजार वर्षों तक नीचे सिर करके तपस्या करनी पड़ेगी। रावण के दस सिर क्यों थे? इसे ऐसा समझना है कि रावण की वासना दस गुणा अधिक है। वे लोग असुर हैं, गीता के १६वें अध्याय में यह बात लिखी है। वास्तविक उद्देश्य है – ''मैं कौन हूँ,'' इसे जानना। उसके लिये किसी दल या अच्छे-बुरे की बात नहीं है। Sri Ramakrishna latest & revised edition of Parbrahma. – श्रीरामकृष्ण परब्रह्म के नवीनतम और संशोधित संस्करण हैं। अत: जब सुयोग मिला है, तब उन्हीं को ही पकड़ो।

१९-५-१९५९

सुबह के १०.३० बजे हैं। एक व्यक्ति ठाकुर जी को भोग दे रहा है।

महाराज – इसमें कई बार रूपया व्यर्थ व्यय होता है। यदि इन्हें गरीबों में बाँट दिया जाय, तो क्या ठाकुर जी सन्तुष्ट नहीं होंगे? क्या उनका भोग नहीं होगा?

उन्होंने ही तो कहा है – ''अहं वैश्वानरो भूत्व प्राणिनां देहमाश्रित: ।''

सेवक – महाराज, हमलोग जिस तरह चल रहे हैं, क्या उससे कोई समस्या आ सकती है ?

महाराज – साधु-जीवन में बहुत सावधान रहना पड़ता है। लगता है बहुत अच्छा चल रहा है, किन्तु धीरे-धीरे बन्धन में पड़ जाता है एवं भगवान पीछे छूट जाते हैं ! हमलोगों के चारों ओर सकंट है। वह हमेशा हमें गलत मार्ग में ले जाने के लिये कोशिश कर रहा है। किन्तु यह भी सही है कि हमलोगों के अन्दर विचार-बुद्धि का भंडार है। यदि हमलोग 'धीयो यो न: प्रचोदयात्' की प्रार्थना करें, तो ये हमारी कोई क्षति नहीं कर सकते।

सेवक – शास्त्रों में बहुत से प्रमाण मिलते हैं कि केवल भक्ति के द्वारा जीवन को उन्नत किया जा सकता है। किन्तु आप बार-बार चार योगों की बात क्यों कहते हैं।

महाराज – केवल भक्ति या उपासना के द्वारा ईश्वर-प्राप्ति करना कठिन है। गोपाल की माँ को हुई थी। शायद पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण उनका चित्त शुद्ध हो गया था। किन्तु हमलोगों को पहले चित्त को शुद्ध करना होगा, चित्तशुद्धि होने के बाद हम ईश्वर-सान्निध्य, ईश्वर के साथ एकात्म बोध करेंगे। सर्वदा ज्ञान-विचार के द्वारा अपने शरीर-मन-बुद्धि को शुद्ध रखने की कोशिश करते-करते हमलोगों का चित्त शुद्ध होगा। तब ईश्वर के प्रति प्रेम होगा।

२२-५-१९५९

महाराज – ठाकुरजी का ध्यान करने के लिये तीन विधियाँ हैं –

१. रूप – उनकी आँखें, नाक, मुख-मंडल, केश, वस्त्र हाथ, खीचीं हुई आँखें, महापुरुषों जैसी हाथें, पैरों की बनावट इत्यादि। कान आँखों के नीचे है।

२. लीला – छोटे-से गदाई से लेकर धीरे-धीरे अन्त्य-लीला पर्यन्त। सब कुछ ईश्वर-चिन्तन से परिपूर्ण है।

३. तत्त्व – वे कौन हैं? इसे जानना।

ध्यान करने के पहले कम-से-कम पाँच मिनट चिन्तन करना कि मैं देह नहीं, मन नहीं एवं बुद्धि नहीं हूँ। यदि प्रतिदिन ऐसा कर सकोगे तो बच जाओगे।

सेवक – किन्तु, जिन लोगों को अपरोक्षानुभूति हो चुकी है, उन्हें हम कैसे पहचानेगें?

महाराज – जो लोग उस सम्बन्ध में बहुत चर्चा और चिन्तन करते हैं, वे लोग समझ सकते हैं।

सेवक – आपका विश्वास तो पक्का है। जैसे, लंदन की कहानी सुनकर लंदन में घूमने जैसा कहा जा सकता है। आप बताईये कि हमलोगों के संघ में कितने साधुओं को अपरोक्ष ज्ञान हुआ है?

महाराज – मैं नहीं जानता, ये सब बाहर से देखकर नहीं कहा जा सकता है।

सेवक – (अपरोक्ष ज्ञान) हुआ है, ऐसे किसी व्यक्ति को आप समझ सके हैं?

महाराज – वह बाहर से समझा नहीं जा सकता है। बहुत से लोगों को धारणा हो गयी रहती है।

सेवक – अच्छा महाराज, ठाकुर ने तो कहीं नहीं कहा है कि चार योग क्या है?

महाराज – उनके जीवन को देखो। उन्होंने 'सच्चिदानन्द कृष्ण, मनकृष्ण और प्राणकृष्ण' ये सब कहा है, यह ज्ञान है। फिर 'हरि हे', 'माँ दर्शन दो' कह कर आँखों से अश्रु बहा रहे हैं, यह भक्ति है। समाधि में जा रहे हैं, यह योग है। और वही बात लोगों के घर-घर जाकर स्वयं ही उन्हें सुना रहे हैं, यह कर्म है। ठाकुर ने जो कहा है, वह सभी तो 'रामकृष्णवचनामृत' में नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रचलित कुछ भी नष्ट नहीं किया है। यहाँ तक कि काली-मंदिर के ब्राह्मण उपपत्नियों के घर में प्रसाद देते थे, यह जानकर भी उनलोगों को ब्राह्मण के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने प्रचलित ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा योग सबको स्वीकार किया। स्वामीजी तो ठाकुर जी की व्याख्या हैं। स्वामीजी के अन्दर ठाकुर जी ने प्रवेश किया है। हमलोग ठाकुर, माँ एवं स्वामीजी को अलग-अलग नहीं देखते हैं। वे हमारी त्रिमूर्ति (त्रिदेव) हैं। फिर भी देखो न, ज्ञान होने से ही भक्ति होगी, भक्ति होने से योग स्वयं ही हो जाता है एवं योग होने से उनकी प्रसन्नता के लिये कर्म करना ही होगा।

❖ **(क्रमश:)** ❖

प्रेरक कथाएँ

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा', 'काठियावाड़ की कथाएँ' तथा महाभारत की कुछ कथाओं का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। उनके 'भक्तितत्त्व' ग्रन्थ से कुछ रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का सम्पादित रूप क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

९. कपोत-कपोती उपाख्यान

(अति स्नेह हानिकारक है)

एक वन में कपोत और कोपती रहते थे। इस जोड़े में परस्पर प्रगाढ़ प्रीति थी। दोनों का एक मन होने से वे साथ-साथ उड़ते, साथ-साथ घूमते-फिरते और साथ-साथ ही खाना खाते – मानो दोनों दो प्राण, पर एक ही जीवन हो। कपोती जो भी वस्तु माँगती, उसे लाने में चाहे जितना भी कष्ट क्यों न हो, प्रेमाधीन कपोत उसे लाकर देता। थोड़े समय बाद कपोती ने अपने घोसले में अण्डे दिये। यथासमय उनमें से बच्चे निकले। कपोत-कपोती अति सावधानी के साथ प्रेमपूर्वक बच्चों का पोषण करने लगे। उनका मधुर कलरव सुनकर दोनों बहुत आनन्द पाते। वे दूर-दूर तक जाकर बच्चों के लिये अति स्वादिष्ट खुराक लाते और प्रेम से उन्हें खिलाते।

एक दिन ऐसा हुआ कि वे दोनों पक्षी खाने की तलाश में कहीं दूर गए हुए थे। इतने में एक बहेलिया उधर आ निकला। उसने बच्चों को उड़ते देख, जाल बिछाकर उन्हें पकड़ लिया। थोड़े समय के बाद ही कपोती वहाँ खाना लेकर आ पहुँची । वह अपने बच्चों को जाल में फँसे तथा चिल्लाते देखकर अत्यन्त दुखी हुई और रोती-रोती बच्चों की ओर दौड़ी। अति स्नेह से पागल-सी हुई वह कपोती अपने बच्चों को जाल में फँसे हुए देखकर स्वयं भी उसमें पड़कर आबद्ध हो गई। इसके बाद कपोत भी वहाँ आया। प्राण से भी अधिक प्रिय बच्चों को लेकर और पतिव्रता स्त्री को जाल में फँसे देखकर कपोत विलाप करने लगा, "हाय ! मेरा तो सर्वनाश हो गया, मेरा पुण्य समाप्त हो गया, मैं पापी हूँ। मेरी तृष्णाएँ तृप्त नहीं हुईं, मेरे मनोरथ पूर्ण नहीं हुए। हाय रे, मेरा तो घर ही बिखर गया, मेरा जीवन कड़वा जहर हो गया। अब इस श्मशान जैसे घर में अकेले रहकर मैं क्या करूँगा? अब मुझे जीने की कोई इच्छा नहीं है।" इस प्रकार विलाप करते हुए वह कपोत भी दु:ख से मूढ़ होकर जाल में फँस पड़ा और मृत्युरूपी बहेलिये के हाथ में जा पड़ा।

चंचल चित्तवाला जो व्यक्ति अपने कुटुम्ब में अति आसक्त है और विवेक-बुद्धि को छोड़कर केवल कुटुम्ब का भरण-पोषण करने में ही रचा-पचा रहता है, वह इस कपोत-दम्पति की ही भाँति दुखी होता है।

य: प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढ़च्युतं विदु: ।।

१०. पिंगला उपाख्यान

(भोगेच्छा त्यागने से ही शन्ति मिलती है)

पुराकाल में विदेहनगर में पिंगला नाम की एक गणिका रहती थी। एक रात वह सज-धजकर पुरुषों को अपने मोहजाल में फँसाने के लिए अपनी खिड़की में बैठी हुई थी।

धनाढ्य लोगों को रास्ते से आते-जाते देखकर वह ऐसी इच्छी करती, "अहा ! ये लोग मेरे मोह में फँसकर मुझे अपार धन देते, तो कितना अच्छा होता !"

परन्तु किसी ने भी उसकी ओर मुड़कर देखा तक नहीं। आधी रात होने तक भी जब कोई उसके फँदे में नहीं फँसा, तब वह अत्यन्त खिन्न हो गई और व्यग्रता के कारण कभी घर के अन्दर जाती, तो कभी घर के बाहर आती।

इस प्रकार बिल्कुल निराश होने से उसकी नींद उड़ गई और आखिर उसमें सुख देनेवाला वैराग्य उत्पन्न हुआ। अपने धन्धे को त्यागने का निश्चय करके वह कहने लगी –

"अरे ! मैं कैसी अविवेकिनी हूँ ! चंचल मन के अधीन होकर मैं कैसा दु:ख पाती हूँ ! सच्चा आनन्द देनेवाले ईश्वर को छोड़कर मैं नीच पुरुषों के पास से धन और सुख की आशा करती हूँ ! पुरुष का शरीर हड्डियों का पिंजर मात्र है और उसमें मल तथा मूत्र भरा हुआ है। मेरे जैसी मूर्ख के सिवाय दूसरा कौन उसका सेवन करेगा? इसलिये अब मैं ईश्वर को ही अपना प्रियतम मानकर उनकी ही सेवा करूँगी। सर्व आशा का त्याग करके धर्म के रास्ते चलकर जो कुछ मिलेगा, उसी के द्वारा अपनी आजीविका चलाऊँगी और आत्माराम के साथ ही विहार करती रहूँगी।"

आशा हि परमं दु:खं नैराश्यं परमं सुखम् ।।

११. कुमारी का कंकण

(भक्ति लाभ के लिये एकान्त-सेवन की आवश्यकता)

किसी गाँव में एक गरीब गृहस्थ की एक कुँवारी कन्या थी। एक समय उसके माता-पिता किसी कारण किसी दूसरे गाँव गये हुए थे, उस समय उसकी शादी के लिये बातचीत करने के लिये कुछ लोग मेहमान के रूप में उसके घर आये। घर में चावल नहीं था। उन लोगों का समुचित रूप से सेवा-सत्कार करने हेतु वह कन्या एकान्त में बैठकर धान कूटने

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

हिमालय के पावन तीर्थ

नन्दकिशोर नौटियाल

हिमालय भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। हिमालय का हर शृंग पूजनीय है। पर्यटकों के लिये यहाँ की दुर्लभ आबोहवा, मनोहारी और विविधतापूर्ण प्राकृतिक छटा बेमिसाल हो सकती है, पर आस्थावानों के लिये हिमालय और उसके शिखरों पर बने मंदिर उस आध्यात्मिक आनन्द तथा शान्ति के स्रोत हैं। हिमालय अपने आप में एक विराट् तीर्थ है।

हिमालय की संस्कृति यहाँ के मूल निवासियों तथा बाद के आवासियों की मान्यताओं तथा रीति-रिवाजों का सम्मिश्रण हैं। हिमालय की सनातनी हिन्दू आस्थाएँ तथा यहाँ के मंदिर शैव, शाक्त और वैष्णव परम्पराओं से जुड़े हुए हैं, पर तीनों धारायें आपस में इस तरह से घुली-मिली हैं कि उन्हें अलग करके देखना मुश्किल है। इन्हीं के साथ स्थानीय देवताओं के भी मंदिर हैं। असल में समूचा हिमालय और हर शिखर किसी-न-किसी देवी या देवताओं के नाम से जाना जाता है। हिमालय आध्यात्मिक-साधना और ज्ञान की तप:स्थली है। हिमालय के इस पावन क्षेत्र को देवभूमि माना जाता है।

हिमालय की उत्तुंग पर्वत-श्रेणियों, सुशान्त निर्मल तालों, कलकल बहती सरिताओं और नैसर्गिक सौन्दर्य से परिपूर्ण वनों; और कहीं घास की हरी चादर ओढ़े, तो कहीं रंग-बिरंगे फूलों से सजी घाटियों की सुन्दरता के दर्शन करनेवालों को जो अनिर्वचनीय दिव्य शान्ति प्राप्त होती है, वह कहीं नहीं है। सचमुच यदि धरती पर कहीं स्वर्ग है, तो वह यहीं है।

हिमालय न सिर्फ आस्था और श्रद्धा का स्रोत है, बल्कि समूची सृष्टि का प्राण भी है। आज भी कौन देता है, उन करोड़ों श्रद्धालुओं को हिमालय इन दिव्य स्थलों के दर्शन का निमंत्रण, जो विश्व भर से यहाँ चले आ रहे हैं? हिमालय के कुछ तीर्थों का परिचय इस प्रकार है – इनमें से हर मंदिर और तीर्थ धरती पर आस्था की अद्वितीय मिसाल है।

पश्चिमी हिमालय – जम्मू-कश्मीर में अमरनाथ मंदिर है १२,७६६ फीट की ऊँचाई पर स्थित इस गुफा में हिम का शिवलिंग हर चन्द्रमाह के शुक्ल पक्ष में स्वत: आकार लेना शुरु करता है और पूर्णिमा को अपना पूर्ण स्वरूप ले लेता है, फिर घटता है और पुन: बढ़ता है। पौराणिक वर्णन के अनुसार यहाँ देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान शिव ने अमृतवर्षा की जिसके फलस्वरूप देवताओं को अमरत्व प्राप्त हुआ, इसीलिये यह गुफा-मंदिर अमरनाथ कहलाया। इसी गुफा में शिवजी ने पार्वतजी को अमरत्व का रहस्य बताया। तब एक कबूतर-कबूतरी ने भी यह संवाद सुन लिया था कहते है कि श्रावण (जुलाई-अगस्त) में जब अमरनाथ की यात्रा होती है, कुछ भाग्यशाली यात्रियों को कबूतरों का एक जोड़ा दीख जाता है। २५०० वर्ष पूर्व यह पौराणिक मंदिर लुप्त हो गया था, पर १८५० में बूटी मलिक नामक एक मुस्लिम गडरिये को सहसा इस गुफा का पता चला। डोगरा महाराजा गुलाब सिंह ने इस खोज पर खुश होकर मलिक-परिवार को मंदिर के चढ़ावे का एक तिहाई हिस्सा बख्श दिया, जो आज भी उसे प्राप्त होता है।

जम्मू में शाक्त परम्परा का गुफा-मंदिर वैष्णोदेवी का है, जहाँ पूरे वर्ष देश के कोने-कोने से लाखों यात्री अपनी मन्नते लेकर आते हैं। वैष्णोदेवी की १४ कि.मी. की पैदल-यात्रा कटरा से 'जय माता दी' घोष के साथ शुरू होती है।

जम्मू-कश्मीर में श्रीनगर के पास तुलामुल्ला में एक तालाब के बीच एक छोटा-सा मंदिर है, जिसमें प्रस्तर लिंग के रूप में क्षीरभवानी का विग्रह है। फिर रामबन के पास दक्षिण-भारतीय शैली का महासरस्वती का आधुनिक मन्दिर है। जम्मू में रघुनाथ मन्दिर है, जिसके परिक्रमा-पथ की दीवारों पर विष्णु भगवान के अवतार उत्कीर्ण है।

उत्तराखण्ड के गढ़वाल और कुमायूँ में भी शैव, शाक्त तथा वैष्णव परम्परा के हजारों मंदिर विद्यमान हैं, इनके अलावा नाग-परम्परा, नृसिंह, भैरव, सूर्य, गणेश, कार्तिकेय, लक्ष्मण, कर्ण, महासू देवता आदि अनेक क्षेत्रीय कुल देवताओं

पिछले पृष्ठ का शेषांश

लगी। कूटते समय उसके हाथ में पहनी हुई चूड़ियों के आपस में टकराने से काफी आवाज निकल रही थी। उसने सोचा कि इन अतिथियों को नहीं मालूम होनी चाहिये कि मैं धान कूट रही हूँ, क्योंकि इससे मेरे माँ-बाप के निर्धनता की बात प्रकट हो जायगी। ऐसा सोचकर उस बुद्धिमती कन्या ने अपने दोनों हाथों से दो-दो चूड़ियों रखकर बाकी सब निकाल दी। फिर कूटना शुरू किया, तो दो-दो चूड़ियाँ भी आवाज करने लगी, अत: दोनों हाथों में सिर्फ एक-एक चूड़ी पहने ही उसने धान कूटना शुरू किया। ऐसा करने से चूड़ियों की आवाज बन्द हो गई और उसका काम आसानी से पूरा हुआ।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि बहुत-से लोगों के एक साथ रहने से कलह उत्पन्न होते हैं; और दो साथ रहें, तो गप्पबाजी में काफी समय बरबाद होता है, अत: भक्त-साधकों को कुमारी कन्या के कंगन की तरह अकेले ही रहना चाहिये।

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कंकणा: ।।

के मंदिर भी हैं, इसीलिये यह क्षेत्र देवभूमि कहलाता है।

हिमालयी मंदिरों और देवालयों की तीर्थयात्रा प्राचीनकाल से होती रही है, इस यात्रा में नैसर्गिक अनुभूति प्रदान करने वाली प्रमुख यात्रा कैलाश-मानसरोवर की है, पर यह सबसे कठिन यात्रा भी है। मानसरोवर झील पश्चिमी तिब्बत में स्थित है और उसके भीतर से २२,००० फुट की ऊंचाई पर उठी हुई विराट् श्याम शिला ही कैलाश है। इस पर्वत को देवाधिदेव महादेव शिव का वास कहा जाता है। मंदिर स्वयं पर्वत है और भगवान आशुतोष भी यह पर्वत ही है। जिसकी दिव्य छवि स्वयं ईश्वर का स्वरूप है। यह भूस्वर्ग है। पुराणों के अनुसार कैलाश पृथ्वी का केन्द्र है। मानसरोवर से प्रवाहित होनेवाली चार नदियाँ चार दिशाओं में, दो चीन की ओर, तथा सिंध को ब्रह्मपुत्र भारत की ओर अवतरित होती है। जैन धर्म में कैलाश अष्टपदा पर्वत है जहाँ जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण हुआ और बौद्धधर्म में यह तथागत बुद्ध का निवास है, जहाँ से धम्मचक्र तिब्बत में प्रकाशित हुआ।

हिमालय के, विशेषकर देवभूमि उत्तराखण्ड के मंदिर, मोक्ष के रास्ते के पड़ाव माने जाते हैं, संसारी के लिये धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के चतुष्पाद जीवन की सफल संपूर्ति के लिये आवश्यक बताये गये हैं, बताया जाता है कि जब सनातन धर्म का पूर्ण पराभव हो चुका था, तो केरल के एक गांव कालड़ी में आदिगुरु शंकराचार्य का जन्म हुआ। उन्होंने भारत के चार कोनों में चार धामों की स्थापना की, जिनमें सर्वप्रथम पीठ ज्योतिपीठ की स्थापना और अन्तत: बद्रीनाथ धाम का पुनरोद्धार किया। बद्रीनाथ को सतयुग का तीर्थ माना जाता है, जहाँ स्वयं भगवान विष्णु ने उस स्थल पर तपस्या की, जो भगवान शिव का स्थान माना जाता था।

उत्तराखण्ड में गढ़वाल हिमालय का बड़ा माहात्म्य है। यहीं से शंकरावतार आदि गुरु शंकराचार्य ने १६ वर्ष की आयु में सनातन धर्म की दिग्विजय यात्रा शुरु की थी और यहीं से ३२ वर्ष की आयु में अपनी कैलाश वापसी प्रारम्भ की थी। यहीं भगीरथ ने गंगोत्री और अलकापुरी से शिव की जटाओं में उत्तरी गंगा प्राप्त की। हिन्दुओं के ६ पवित्र प्रयागों में ५ प्रयाग, १२ ज्योतिर्लिंगों में सर्वोपरि केदारनाथ तथा देवी भगवती के १०८ सिद्धपीठों में ४ यहीं हैं।

पौराणिक वृत्तान्तों के अनुसार पांडवों ने यहीं से स्वर्गारोहण किया। सिखों के दसवे गुरु गोविन्दसिंह जी की पूर्वजन्म की तपस्थली हेमकुंड साहब भी यहीं है। हिमालय के चार प्रमुख तीर्थ – यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ और बद्रीनाथ यहीं है। यहाँ से प्रवाहित होनेवाली चार नदियाँ (यमुनोत्री में) यमुना, (गंगोत्री में) भागीरथी, (केदारनाथ में) मंदाकिनी तथा (बद्रीनाथ में) अलकनंदा इन तीर्थों को पवित्र जलधारा प्रदान करती हैं।

यमुनोत्री – यमुना नदी के स्त्रोत पर ३२३५ मीटर की ऊचाईं पर गढ़वाल हिमालय के पश्चिमी भाग में स्थित है, यमुनोत्री का वास्तविक स्त्रोत बर्फ की जमी हुई एक झील और हिमनद (चंपासर ग्लेशियर) है, जो समुद्रतल से ४४२१ मीटर की ऊँचाई पर कालिंद पर्वत पर स्थित है। यमुना का जल हिम-शीतल है यमुना के इस जल की परिशुद्धता, निष्कलुषता एवं पवित्रता के कारण भक्तजनों के हृदय में यमुना के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति उमड़ पड़ती है, पौराणिक आख्यान के अनुसार असित मुनि की पर्णकुटी यहीं पर थी, मंदिर तक अब छ: किमी. की चढ़ाई का मार्ग दुर्गम होते हुए भी अगल-बगल में स्थित गगनचुंबी मनोहरी बर्फीली चोटियाँ तीर्थयात्रियों को सम्मोहित कर देती हैं।

शिव-गणेश गुफा-मंदिर - यमुनोत्री मार्ग पर धरासू से कोई १३ कि.मी, की दूरी पर हाल में ही पास वाले गाँव के एक व्यक्ति को स्वप्न आया कि किसी देवता ने उससे कहा, 'मेरा मंदिर बंद पड़ा है। गाँव के ऊपरवाले सोते के ऊपर के पहाड़ को खोद, तो मैं प्रकट हो जाऊँगा।' उसने खुदाई की तो वहाँ एक गुफाद्वार खुल गया। वह गुफा में प्राकृतिक रूप से बनी आकृतियों को देखकर दंग रह गया। गुफा के अन्दर बीच में विशालकाय गणेश की बिना सर की मूर्ति जिस ब्रह्मकमल रूपी आकृति से जल की बूँदे झर रही हैं, गणेशाकृति पर प्राकृतिक हजारों 'ॐ' उत्कीर्ण हैं, उसकी बायीं ओर शिव की और दायी ओर मां पार्वती की आकृति है, पुराणों में वर्णित वह गुफा गणेशजी का सर काटने के बाद दूसरा गजानन लगाने से पहले ब्रह्मकमल में अमृत निर्झर करते हुए जहाँ जीवित रखा गया था, शायद यह वही गुफा हो, इसीलिये इसका नाम शिव-गणेश गुफा है, जो इधर यमुनोत्री जानेवाले श्रद्धालुओं के आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है।

गंगोत्री मंदिर – समुद्र तल से ३०४२ मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। भागीरथी के दाहिने ओर का परिवेश अत्यंत आकर्षक एवं मनोहारी है। यह स्थान उत्तरकाशी से १०० किमी. की दूरी पर स्थित है। गंगा मैया के मंदिर का निर्माण गोरखा कमाण्डर अमर सिंह थापा द्वारा १८वीं शताब्दी के शुरुआत में किया गया था। वर्तमान मंदिर का पुन: निर्माण जयपुर के राजघराने द्वारा किया गया था। प्रत्येक वर्ष मई से अक्टूबर के महीनों के बीच पतित-पावनी गंगा मैया के दर्शन करने हेतु लाखों श्रद्धालु तीर्थयात्री यहाँ आते हैं।

पुराणों के अनुसार भगवान श्रीराम के पूर्वज राजा भगीरथ ने यहीं एक पवित्र शिलाखण्ड पर बैठकर भगवान शंकर की घोर तपस्या की थी। इस पवित्र शिला के पास ही १८वीं शताब्दी में इस मंदिर का निर्माण हुआ। कहते हैं कि पाण्डवों ने भी महाभारत-युद्ध में मारे गये अपने परिजनों की आत्मिक शांति के निमित्त यहीं आकर एक महान् देवयज्ञ का अनुष्ठान किया था। यह पवित्र उत्कृष्ट मंदिर सफेद ग्रेनाइट के चमकदार

२० फीट उँचे पत्थरों से बना है। दर्शक मंदिर की भव्यता एवं शुचिता देखकर सम्मोहित हुए बिना नहीं रहते।

भागीरथी नदी में शिवलिंग के रूप में एक नैसर्गिक चट्टान जलमग्न है। यह दृश्य अत्यधिक मनोहारी एवं आकर्षक है। इसके देखने से देवी शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार, भागवान शिव इस स्थान पर अपनी जटाओं को फैलाकर बैठ गये और उन्होंने गंगा माता को अपनी घुंघराली जटाओं में लपेट दिया। शीतकाल के आरम्भ में जब गंगा का स्तर काफी नीचे चला जाता है, उस अवसर पर ही उक्त पवित्र शिवलिंग के दर्शन होते हैं। लेकिन भागीरथी माता के उद्‌गम का स्रोत गंगोत्री हिमनद (ग्लेशियर) है। १८ किमी. चढ़ाई वाली गौमुख की यात्रा करते समय शायद ही ऐसा कोई यात्री होगा जो धरती के इस सौन्दर्य, शुचिता और पवित्रता से सम्मोहित न होता हो। मार्ग में भोजपात्र के पेड़ों का घना जंगल फैला हुआ है। भोजपात्र के पेड़ की छाल प्राचीनकाल में लिखने के लिये उपयोग में लायी जाती थी। पहले संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थ एवं तात्रिक विधियाँ इन्हीं भोजपत्रों पर लिखी जाती थीं।

केदारनाथ – भारत के उत्तर में नगाधिराज हिमालय की सुरम्य उपत्यका में स्थित ज्योतिर्लिंग केदारनाथ प्राचीन काल से ही पावन एवं मोक्षदायक रहा है। इसकी प्राचीनता एवं पौराणिक माहात्म्य के बारे में स्वयं भगवान शंकर ने स्कन्द-पुराण में इसे अपना चिरनिवास कहा। यहीं भगवान शिव ने अपने प्रिय पुत्र स्कन्द को ज्ञान दिया था। जिसके बाद उन्होंने पुराण की रचना की। इसलिये यह स्थान भूस्वर्ग के समान है। हिमालय में स्थित होने के कारण १२ ज्योतिर्लिंगों में श्री केदारनाथ जी सर्वोपरि हैं। द्वापर में महाभारत-युद्ध में पाण्डव गोहत्या के पाप से बड़े दुखी हुए और वेदव्यास जी की आज्ञा से केदारक्षेत्र में भगवान शंकर के दर्शनार्थ आये। गोघाती पाण्डवों को भगवान शिव, दर्शन नहीं देना चाहते थे। अत: वे मायामय भैंसे का रूप धारण कर केदार अंचल में विचरण करने लगे, लेकिन पाण्डवों ने पहचान लिया कि यही शिव हैं। महिषरूपी शिव भूमिगत होने लगे, तो पाण्डवों ने दौड़कर महिष की पीठ पकड़ ली और भगवान शिव की स्तुति करने लगे। उसी महिष के पृष्ठ भाग के रूप में भगवान शंकर वहां स्थित हुए। पाण्डवों ने भगवान केदारनाथ जी के विशाल एवं भव्य मंदिर का निर्माण किया। तब से भगवान आशुतोष केदारनाथ में दिव्य ज्योतिर्लिंग के रूप में स्थित हैं।

शंकराचार्य की समाधि – आदि गुरु शंकराचार्य का अंतिम शान्ति-स्थल केदारनाथ मंदिर के पीछे स्थित है। आदिगुरु ने भारत के चार कोनों पर चार धामों की स्थापना की, जो कि उस समय सम्राट अशोक के बौद्ध धर्म के प्रसार के कारण दुरवस्था में था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि चारों धामों के निर्माण के बाद युवा अवस्था (३२ वर्ष) में ही आद्यगुरु समाधि में चले गये। अब जगदगुरु शंकराचार्य स्वामी श्री स्वरूपानंद सरस्वती जी द्वारा इस स्थल का जीर्णोद्धार हो चुका है। उसे साधना स्थल का रूप दे दिया गया है।

केदारनाथ मंदिर में एक किलोमीटर से भी कम दूरी पर स्थित है एक लघु झील, जहाँ से युधिष्ठिर (पांचों पाण्डवों में ज्येष्ठ पुत्र) ने स्वर्ग के लिए प्रस्थान किया था। अब इसे गांधी सरोवर कहते हैं, यहाँ गाँधीजी की अस्थियाँ विसर्जित की गयी थीं। यहाँ से ६ किलोमीटर दूर तथा ४१३५ मीटर की ऊँचाई पर स्थित है, मोतियों से भरा हुआ एक प्राकृतिक ताल वासुकी ताल, जल से तल में स्वच्छ चमकीला पत्थर है तथा जल में जगह-जगह चमकते हुए बर्फ के खण्ड तैरते रहते हैं। शीतऋतु में यह पूरी तरह से जम जाता है।

समुद्रतल से १४७९ मीटर ऊपर गुप्तकाशी स्थित है। यहाँ भगवान शिव उस समय छिप गये थे, जब पाण्डव कौरवों की हत्या के पाप से मुक्ति चाह रहे थे, जिसका वर्णन महाभारत में उल्लेखित है। यह भगवान विश्वनाथ का मंदिर है, जिनका प्रमुख पीठ वाराणसी में है। यहाँ अर्द्धनारीश्वर देवता भी उल्लेखित है। इस मंदिर के सामने दो धारायें प्रवाहित होती हैं। स्थानीय लोगों की मान्यता है कि यह जल गंगोत्री एवं यमुनोत्री से नि:सृत होता है। दोनों धाराओं के जल के स्वाद में अन्तर है।

भगवान केदारनाथ का शीतऋतु का प्रमुख पीठ है ऊखीमठ, शीतकाल में जब केदारनाथ का मंदिर बंद रहता है तब पूजा यहाँ की जाती है। इस क्षेत्र के सिद्ध पीठों में कालीमठ भी एक है, जो धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। काली देवी का मंदिर यहाँ स्थित है। जहाँ प्रत्येक वर्ष नवरात्रि के अवसर पर हजारों तीर्थयात्री दर्शन करने के लिये आते हैं। यही महाकवि कालीदास को वह वरदान प्राप्त हुआ बताया जाता है, जिसके फलस्वरूप वे महाकवि बन गये। मठ के निकट कालीदास का जन्मस्थल कमिठा ग्राम भी है। समुद्रतल से १९८० मी. ऊंचाई पर तथा सोन प्रयाग से १४ किलोमीटर दूर स्थित त्रियुगीनारायण का धार्मिक माहात्म्य यह है कि भगवान शिव और पार्वती का विवाह भगवान विष्णु की उपस्थिति में यहीं सम्पन्न हुआ था। आज भी शिव पार्वती विवाह संस्कार की अखण्ड ज्योति यहाँ जल रही है।

केदारनाथ से विलुप्त होने के बाद भगवान शिव के अंग जहाँ प्रकट हुए, वहाँ तीर्थ बन गया। नाभि मदमहेश्वर में उदित हुई। नाभिनुमा लिंग के रूप में यहाँ भगवान शिव की पूजा होती है। चौखम्बा पर्वत के आधार पर ३२८९ की उँचाई पर स्थित यह मन्दिर उत्तर भारतीय शैली का है। यहाँ का जल इतना सुस्वादु एवं पवित्र है कि इसकी कुछ बूँदें ही पाप-शाप से मुक्ति दिलाने वाली मानी जाती है।

केदारनाथ और नीलकंठ पर्वत यहाँ से देखे जा सकते हैं। निकटवर्ती पहाड़ों का सम्पूर्ण वृत्त भगवान शिव से संबद्ध है। भारत में हरगौरी की सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा जो एक मीटर से कुछ ऊँची है, यहाँ के काली मंदिर में विराजमान है।

भगवान शिव की भुजा तुंगनाथ में उभरी, चंद्रनाथ पर्वत की ३६८० मी. की ऊँचाई पर स्थित यह तुंगनाथ मंदिर पंचकेदार में सर्वाधिक ऊँचाई पर स्थित मन्दिर है। तुंगनाथ की चोटी जलस्रोतों का उद्‌गम है। आकाशकामिनी नदी यहीं से प्रस्फुटित होती है। मन्दिर हिमालय के सर्वसुन्दर स्थलों में एक है। तुंगनाथ में नंदादेवी मन्दिर भी स्थित है, निकट ही स्वर्ग से उतरता हुआ सा प्रतीत आकाशलिंग प्रपात है, जिसे देखकर रोमांच होने लगता है।

रुद्रनाथ में भगवान शिव का मुख प्रकट हुआ, हालांकि यह मन्दिर २२८६ मी. ऊंचाई पर एक मैदानी क्षेत्र में विद्यमान है, पर यहाँ पहुँचने के लिये इससे दुगनी ऊँची चोटियों को पार करना पड़ता है। श्रद्धालुजन अपने पूर्वजों के धार्मिक संस्कार पूरे करने के लिये रुद्रनाथ आते हैं, क्योंकि कहते हैं कि देह त्यागने के बाद आत्मा, यहाँ स्थित वैतरणी नदी को पार करके ही आगे बढ़ती है। मंदिर चारों ओर से कई छोटे-छोटे तालाबों से घिरा हुआ है, जैसे - सूर्यकुंड, चन्द्रकुंड, ताराकुंड, मानसकुंड इत्यादि, जबकि पीछे की ओर ऊपर, नंदा देवी, नंदा घुंटी, त्रिशूल आदि ऊँची चोटियाँ हैं।

कल्पेश्वर वह स्थान है, जहाँ भगवान शिव के केश प्रकट हुए थे। यह स्थान अप्सरा उर्वशी और क्रोधी ऋषि दुर्वासा के लिये भी प्रसिद्ध है। यहाँ साधु, अर्घ्य देने के लिये पूर्व प्रण के अनुसार तपस्या करने आते हैं। २१३४ मीटर की ऊँचाई पर स्थित, मंदिर का रास्ता एक कि.मी. की प्राकृतिक गुफा से होकर जाता है।

अलकनंदा के दाहिने तट पर स्थित **बद्रीनाथ** (ऊँचाई २१३३ मी.) हिन्दुओं के चार धामों में से सर्वश्रेष्ठ एक धाम माना जाता है। बदरिकाश्रम को अष्टम वैकुण्ठ के रूप में भी जाना जाता है। इसके अधिष्ठाता स्वयं भगवान विष्णु हैं। चारों युगों में चार धामों की स्थापना का वर्णन पुराणों में वर्णित है। सतयुग का धाम बद्रीनाथ, त्रेता का रामेश्वरम, द्वापर का द्वारिका एवं कलियुग में जगन्नाथ की मान्यता है।

सतयुग में यहाँ भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे, त्रेता युग में योगियों को ही भगवान के दर्शनों का लाभ होने से इसे 'योगसिद्धिदा', द्वापर में प्रत्यक्ष दर्शनों की आशा में 'विशाला' और कलियुग में 'बदरीनाथ' नामों से जाना गया। बौद्धकाल में पुजारियों ने भगवान की मूर्ति को नारद-कुण्ड में छिपा दिया। शिवजी ने कहा – नारायण मेरे भी आराध्य हैं, अत: मैं स्वयं अवतार धारण कर मूर्ति का उद्धार करूँगा। कालान्तर में भगवान आशुतोष शिव ने ही दक्षिण भारत के कालड़ी गाँव में ब्राह्मण भेरवदत्त (शिवगुरु) के घर माता आर्याम्बा के गर्भ से जन्म लेकर, शंकराचार्य के नाम से मूर्ति का उद्धार किया। आज भी जगदगुरु शंकराचार्य की निधारिंत परम्परार के अनुसार इन्हीं के वंशज 'नम्बूदिरीपाद' ब्राह्मण भगवान बदरी विशाल की पूजा-अर्चना करते हैं। मन्दिर छह महीने बंद रहता है। मन्दिर खुलने के 'अखण्ड ज्योति' के दर्शन का खास महत्त्व है।

आदि केदारेश्वर – बदरी क्षेत्र पूर्व में शिव-पार्वती का ही स्थान था। भगवान विष्णु इस क्षेत्र को अपना बनाना चाहते थे। एक दिन ऋषिगंगा के दायें भाग में स्थित एक शिलाखण्ड (लीलाढुंगी) पर रोते और हाथ-पैर पटकते बालक को देख पार्वती ने भगवान शिव से कहा – नाथ ! किसी पाषाणहृदय देवी ने कैसे सुन्दर बच्चे को यहाँ फेंक दिया है। इसे भवन में रखें। अन्तर्यामी भगवान शिव ने पार्वती को सचेत करते हुए कहा – देवी ! यह कोई मायावी कुमार है, इसका चक्कर छोड़ो, छली जाओगी। परन्तु पार्वती बच्चे को उठाकर भवन ले आती हैं। जब चतुर्भज नारायण के रूप में प्रकट होते हैं, तो शिवजी उस पूरे क्षेत्र को त्याग देते हैं और केदार क्षेत्र में स्थित हो जाते हैं। अब छोड़े हुए उस स्थान पर आदि केदारेश्वर मंदिर है।

वसुधारा – अलकनंदा के तट पर धर्मवन से आगे 'वसुधारा' नामक तीर्थ है। बदरी नाथ से लगभग ७किमी. दूर यह स्थल अत्यन्त रमणीय है। यहाँ पर १२२ मीटर ऊँचे शिखर से गिरती जलधारा वायु के थपेड़ों से बिखरे मोती कणों से झरती है। उनके स्पर्श मात्र से मन-प्राण पुलकित हो जाते हैं। यहाँ पर ही अष्टवसुओं ने ३०,००० वर्षों तक तप की और भगवान विष्णु के प्रत्यक्ष दर्शन एवं उनसे अविचल भक्ति का वर प्राप्त किया। वसुओं की तपस्थली ही वसुधारा के रूप में प्रसिद्ध है।

लोकपाल (दण्ड प्रष्करिणी) हेमकुण्ठ साहिब – यहाँ पर लक्ष्मणजी का सिद्ध मन्दिर है, पुराण प्रसिद्ध यह तीर्थ अब सिखों का भी तीर्थस्थल बन गया है। सिखों के दसवें गुरु गोविन्द सिंहजी के पूर्वजन्म में यहाँ आकर तप करने का उल्लेख 'विचित्र नाटक' ग्रन्थ में भी मिलता है।

माना गाँव – यह भारत-तिब्बत सीमा पर स्थित अंतिम गांव है। इस गाँव के पास अनेक गुफायें हैं, जिनमें व्यास गुफा काफी प्रसिद्ध है। वेदव्यास को महाभारत का रचयिता कहते हैं। गुफा के भीतर, महाभारत की रचना करते हुए वेदव्यास की संगमरमर की मूर्ति स्थापित है। पास ही सरस्वती नदी पर प्राकृतिक पुल भीम पुल है। यह नदी व्यास गुफा को छूने के बाद केशवप्रयाग में अलकनंदा में गुम हो जाती है।

ज्योतिर्मठ (जोशीमठ) नृसिंह बदरी क्षेत्र – जगद्‌गुरु आदि शंकराचार्य ने तपस्थित होकर 'दिव्यज्योति' यहीं प्राप्त

की, यहाँ शंकराचार्य गुफा एवं अनादि शहतूत वृक्ष के मूल में स्थित ज्योतिरीश्वर महादेव हैं तथा समीप ही भक्तवत्सल भगवान हैं। शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती द्वारा इस स्थान का जीर्णोद्वार किया गया है। जोशीमठ में भगवान नृसिंह जी की शालिग्राम शिला पर निर्मित भव्य मूर्ति वीरासन में स्थित है। पुराणों में वर्णन आता है कि हिरण्यकश्यपु के वध के उपरान्त भगवान नृसिंह जब अत्यधिक उग्र एवं क्रुद्ध हो जाते हैं,, तो देवताओं ने यथासाध्य स्तुति-पाठ से भगवान को शान्त करना चाहा। परन्तु भक्त की पीड़ा से उत्पन्न क्रोध हिरण्यकश्यपु वध से भी शान्त नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा नृसिंह भगवान इस बदरीकाश्रम क्षेत्र में पहुँचे एवं स्वत: शान्त हो गये। पुराणमत से प्रह्लाद भगवान नृसिंह जी की भक्ति से रत रहकर नित्य यहाँ स्थित रहते हैं।

पाण्डुकेश्वर – बदरीनाथ और जोशीमठ के बीच में स्थित है। यहाँ पर योगध्यानजी का मंदिर है। शीतकाल में भगवान बदरीनाथ की उत्सवमूर्ति यहीं रहती है और तब वे यहीं पूजित होते हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार पाण्डवों का जन्म यहीं हुआ था। यहाँ साधकों, ऋषि-मुनियों तथा वानप्रस्थियों के आश्रम थे। यहीं कुन्ती और माद्री भी त्यागमय जीवन जीकर पतिपरायण होकर पतिसेवा में लगी रहती थीं। पाण्डु की प्रेरणा से कुन्ती ने धर्म के अंश से युधिष्ठिर, वायु के अंश से भीम, इन्द्र के अंश से अर्जुन को पुत्र रूप में प्राप्त किया। माद्री ने भी राजा पाण्डु की प्रेरणा से अश्विनी-कुमारों के अंश से नकुल और सहदेव को पुत्र रूप में प्राप्त किया।

हनुमान चट्टी – यहाँ हनुमानजी का मंदिर है, जो ध्यान मुद्रा एवं भजन में प्रवृत्त देखे जाते हैं। यहाँ पर कुन्तीपुत्र भीम को हनुमानजी के वृद्ध वानर के रूप में दर्शन हुए थे। एक बार महारानी द्रौपदीजी को अलकनंदा में बहकर आये दिव्य ब्रह्मकमल के दर्शन हुए। द्रौपदी आकृष्ट हुई कि कोई उपवन जरूर होगा जहाँ ये पुष्प खिले हों। कौन इस पुष्पों को लाये, सो द्रौपदी की अभिलाषा जान भीम ने यह बीड़ा उठाया। एक वृद्ध वानर को मार्ग में पसरा हुआ भीम ने देखा। भीम गरजे, वानर मार्ग खाली करो। वानर बने हनुमान बोले कि मैं बीमार हूँ, हिलडुल नहीं सकता। पूंछ भी नहीं उठ पाती है, आप ही हमारे पूंछ को एक किनारे कर दे तथा चले जायँ। भीम पूंछ हटाने का प्रयत्न करते हैं। सारी शक्ति लगाकर भी जब वानर की पूंछ नहीं उठा पाये, तो विनय में भरकर पूछते हैं – प्रभो, आप कौन है? इस पर हनुमानजी परिचय देते हैं – मैं तुम्हारा ही भाई हूँ। भीम के अपार आग्रह पर हनुमानजी ने लंकादहन के समय धारण किये गये अपने विशाल स्वरूप के उन्हें दर्शन कराये, अत: हनुमानजी के भक्त-साधकों के लिये यह स्थान संजीवनी के समान है।

भविष्य बदरी – भगवान बदरी की प्रतिमा यहाँ स्वयं प्रगट हुई थी। जोशीमठ से १७ कि.मी. पूर्व में लाता मलारी रास्ते में तपोवन में स्थित तीर्थयात्रियों को तपोवन के पार धौली गंगा नदी तक पैदल जाना होता है। तपोवन में गंधक के गर्म जलस्रोत हैं। इससे उत्तर का दृश्य साँसें रोक देने वाला है। ऐसी धारणा है जब घोर कलयुग आयेगा, विष्णु प्रयाग के समीप पटमिला में जय और विजय पर्वत ढह जायेंगे तथा बदरीनाथ मंदिर अगम हो जायगा। तब भगवान बदरीनाथ की यहीं पूजा होगी। अत: भविष्य के बदरी का नामकरण हुआ। भविष्य बदरी आज भी सुप्रसिद्ध है। जहाँ शेर के शीश वाली नरसिंह की मूर्ति स्थापित थी।

पंचप्रयाग – नदियों का संगम भारत में बहुत ही पवित्र माना जाता है, इसलिये कि नदियाँ देवी-रूप मानी जाती हैं, इलाहाबाद में गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम के बाद गढ़वाल-हिमालय के क्षेत्र के संगमों को सबसे पवित्र माना जाता है, क्योंकि गंगा, यमुना, सरस्वती और उनकी सहायक नदियों का यहीं उद्गम स्थल है। जिन जगहों पर इनका संगम होता है, उन्हें प्रमुख तीर्थ माना जाता है। यहीं पर श्राद्ध के संस्कार होते हैं। विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, रुद्रप्रयाग और देवप्रयाग – ये पंचप्रयाग हैं। देवप्रयाग के बारे में स्कन्द -पुराण में लिखा है कि देवधर्मा नामक ब्राह्मण ने सतयुग में निराहार सूखे पत्ते चबाकर तथा एक पैर पर खड़े होकर एक हजार वर्ष तप किया। उन्हें भगवान विष्णु के प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। यहीं से भागीरथी और अलकनंदा मिलकर गंगा कहलायी।

शिवपुराण की कथा है कि कनखल में दक्ष प्रजापति का यज्ञ भंग होने के बाद जब भगवान शिव अपनी पत्नी सती का शव लेकर नभमार्ग से कैलाश लौट रहे थे, तो जहाँ-जहाँ सतीमाता के अंग गिरे, वे शक्तिपीठ बन गये। नैनीताल में आँख गिरी, अत: यह स्थान नैनादेवी (नैनीताल) कहलाया।

कुमायूँ के जागेश्वर और बागेश्वर के भव्य तथा वास्तुकला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर मन्दिर नगर हैं। हिमालयी क्षेत्र में हिन्दुओं के मंदिरों की विशेषता यह है कि मुख्य्य मंदिर के परिसर में अन्य देवी-देवताओं के विग्रह भी मौजूद हैं। शैव-शाक्त तथा वैष्णव परम्पराओं का जो सम्मिश्रण हिमालय के तीर्थों में मिलता है, वह इस देश की प्राचीन पन्थ-निरपेक्षता की जीती-जागती बानगी है। इसी आदर्श पर चलकर भारतीय संस्कृति और धर्म अक्षुण्ण रहकर फूले-फलेंगे और विश्व को 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का आदर्श रास्ता दिखा सकेंगे। ❑

स्वामी विज्ञानानन्द के सान्निध्य में

राय नगेन्द्र प्रसाद

मैं बिहार के छपरा जिले का निवासी हूँ। मेरा कर्मक्षेत्र इलाहाबाद है । मेरे जीवन का अधिकांश भाग – ५० वर्षों से भी अधिक – इलाहाबाद में व्यतीत हुआ । आज भी यहाँ हूँ। जितने दिनों तक कार्यक्षमता बनी रहेगी, उतने दिन यही बिताना चाहता हूँ। यह मेरी स्वतंत्र इच्छा नहीं, अपितु यह मेरे गुरुदेव के आदेश के कारण है, जिन्होंने मेरे जीवन के धर्म तथा कर्म को एक कर दिया है।

ब्रह्मचारी पंचानन से परिचय

मेरे गुरुदेव स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज श्रीरामकृष्ण के साक्षात् शिष्य थे। मैं सर्वप्रथम १९२४ ई. में इलाहाबाद के मुट्ठीगंज मुहल्ले में स्थित रामकृष्ण मिशन द्वारा परिचालित होमियोपैथिक दातव्य चिकित्सालय के माध्यम से महाराजजी के सम्पर्क में आया। तब मेरी आयु तेईस वर्ष थी। चिकित्सालय का कार्यभार ब्रह्मचारी पंचानन पर था, जिन्हें महाराजजी 'देवता' कहते थे। पंचानन महाराज से मेरा किस प्रकार परिचय हुआ, यह कथा यहाँ विस्तारपूर्वक कहने की आवश्यकता नहीं है। प्रासंगिक बात इतनी ही है कि किसी घटना के सन्दर्भ में पंचानन महाराज ने एक दिन उस चिकित्सालय के कार्य के संचालन में मेरी सहायता तथा सहयोग माँगी। चिकित्सालय में उन दिनों कार्यकर्ताओं का नितान्त अभाव था। मुझे होमियोपैथी का थोड़ा ज्ञान था। मैं आनन्दपूर्वक इस जनहित के कार्य से जुड़ गया। इलाहाबाद के हाईकोर्ट में नौकरी करता था, बीच-बीच में चिकित्सालय के कार्य में पंचानन महाराज की सहायता भी करता। इसी माध्यम से मैं विज्ञानानन्दजी महाराज के सम्पर्क में आया। परन्तु आरम्भ में करीब एक वर्ष मेरा उनके साथ बहुत कम ही सम्पर्क हुआ – कभी चिकित्सालय के विषय में वे कुछ कहते और मैं बस उसे सुन लेता। उनके साथ मेरा निकट सम्पर्क इसके और भी बाद में हुआ। १९२५ ई. की एक घटना के माध्यम से इस संयोग-स्थापना का सूत्रपात हुआ। वह एक अद्भुत घटना थी।

उस समय नेपाल से अवकाश-प्राप्त एक सिविल-सर्जन कुमुदबाबू इलाहाबाद आये। जहाँ तक स्मरण आता है, उनकी उपाधि थी बन्द्योपाध्याय। उन्होंने दातव्य चिकित्सालय के संचालन का भार लेना चाहा। उन्हें होमियोपैथी का भी ज्ञान था। महाराजजी सहमत हो गये। कुछ दिनों तक काम-काज चलने के बाद कुमुदबाबू की पंचानन महाराज के साथ अनबन हो गयी। कुमुदबाबू असहिष्णु स्वभाव के व्यक्ति थे। वे बीच-बीच में पंचानन महाराज के विरुद्ध महाराजजी के पास शिकायत किया करते थे। उन आरोपों को सुनकर एक दिन महाराजजी ने पंचानन महाराज को कुछ कहा था। इसके बाद ही पंचानन महाराज सुबह जो दवाखाने से गये, तो फिर आश्रम में लौटकर नहीं आये। दोपहर के भोजन के समय उन्हें अनुपस्थित देखकर महाराज जी ने सेवक बेनी से पूछा, "देवता कहाँ है?" चिकित्सालय तथा अन्यत्र भी, उनकी काफी खोज की गयी, पर उनका कहीं पता नहीं चला। समझ लिया गया है कि वे चले गये हैं। (अनेक वर्षों बाद उनका पता मिला था, पर वे फिर लौटकर आश्रम में नहीं आये।) महाराजजी गम्भीर हो गये। उन्होंने उसी दिन कुमुद बाबू को सूचना भेज दी कि उन्हें अब चिकित्सालय में आने की आवश्यकता नहीं है।

चिकित्सालय का कार्यभार

इस घटना के बाद मैं महाराजजी के सामने उपस्थित हुआ। मुझे देखकर वे बोले, "मैंने चिकित्सालय बन्द कर देने का निर्णय किया है।" इस पर मैंने मृदु स्वर में अनुनय करते हुए कहा, "महाराज, इस चिकित्सालय से बहुत-से गरीब लोगों का उपकार होता है। इसे बन्द कर देना क्या उचित होगा?" तब उन्होंने कहा, "ठीक है, मैं इसे चालू रख सकता हूँ, परन्तु लालाजी (वे मुझे इसी नाम से सम्बोधित किया करते थे), एक शर्त पर, और वह यह कि यदि आप स्वयं इसके उत्तरदायित्व को ग्रहण करें। सुनकर पहले तो थोड़ा भय हुआ। बोला, "महाराज, यह भला कैसे सम्भव होगा? मैं तो कोर्ट में नौकरी करता हूँ। वहाँ देर से जाने का नियम नहीं है। अत: चिकित्सालय के लिये मैं भला कितना समय निकाल सकूँगा? बहुत-से रोगी आकर बिना दवा के ही लौट जायेंगे।" इस तर्क को स्वीकार करते हुए महाराजजी ने कहा, "ठीक है, इसीलिये तो कहता हूँ कि इसे बन्द कर दूँगा। एक शर्त पर ही इसे खुला रख सकूँगा, जो मैं पहले ही बता चुका हूँ।" महाराजजी को हमेशा देखा है – स्पष्टवक्ता थे, एक बात के आदमी थे। जो भी कहते, उससे टस या मस नहीं होते। मैंने थोड़ा विचार करने के बाद अन्त में कहा, "महाराजजी, आपने जो कहा, वही होगा। मैं इसका भार लेता हूँ। दफ्तर में प्रयास करके देखूँगा कि थोड़ा विलम्ब से जाने की अनुमति मिल पाती है या नहीं।" महाराजजी मेरी बात को सुनकर बड़े सन्तुष्ट हुए और उनके मुखमण्डल पर प्रसन्नता की आभा फैल गयी।

तब से – वह १९२५ ई. का जून या जुलाई रहा होगा – रामकृष्ण मिशन के इस दातव्य चिकित्सालय के कार्यों का दायित्व-निर्वाह कर रहा हूँ। जब तक नौकरी थी, तब तक दोनों ओर देखना पड़ता था। १९६० ई. में हाईकोर्ट की नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया है। तब से निश्चिन्त मन से यह कार्य कर रहा हूँ।

चिकित्सालय का उत्तरदायित्व लेने के बाद से नियमित रूप से महाराजजी का दर्शन होता था। मैं मुट्ठीगंज-आश्रम के पास ही रहता था। अपराह्न में आश्रम जाता था। क्रमश: यह नित्य के अभ्यास में परिणत हो गया। महाराजजी के समीप कुछ भक्त आते (उनकी संख्या ज्यादा नहीं होती थी) और बातें होतीं। मैं सुनता था। सामान्यत: वे हल्के मन से बोलते तथा व्यंग्य-विनोद किया करते थे। आध्यात्मिक विषयों पर विस्तृत चर्चा नहीं होती थी। तो भी किसी कि विशेष आध्यात्मिक जिज्ञासा होने पर वे महाराजजी से एकान्त में निवेदन करते थे। महाराजजी भी उन्हें एकान्त में ले जाकर जो उचित होता, बता देते। जो लोग उनके पास आते, उन्हें वे चाय पिलाते। नौकर बेनी प्याला, चाय, चीनी तथा गरम पानी ला देता। महाराजजी अपने हाथों से प्याले आदि को गरम पानी से धोकर, जिसकी जितनी चीनी लेने की आदत होती, उतनी मिलाकर चाय बना देते थे। यह कार्य मैं उन्हें नियमित रूप से करते देखता। उस समय विशेष धर्मचर्चा नहीं होती। मैं स्वयं भी कोई प्रश्न नहीं करता था, पर महाराजजी का सान्निध्य तथा उस आश्रम के प्रति एक विशेष आकर्षण का बोध होता रहता था। लगता था कि आश्रम में प्रवेश करने मात्र से ही मेरा मन शान्ति से परिपूर्ण हो जाता था। महाराजजी के आश्रम तथा मन्दिर में मानो एक सघन तथा शान्ति का निवास था। वह वर्णन की नहीं, अपितु अनुभव की चीज थी। आश्रम के बाहर आने पर लगता कि वहाँ के और बाहर के परिवेश में कैसा जमीन-आसमान का अन्तर है।

कठिनाइयों का समाधान

महाराजजी के आश्रम में आना-जाना शुरू करने के साथ-ही-साथ मेरे जीवन की जटिलताएँ तथा कठिनाइयाँ भी मानो क्रमश: समाप्त होने लगीं। सबेरे चिकित्सालय का कार्य करने के कारण मेरा विचार था कि दफ्तर थोड़ी देर से जाऊँ। यह बात ऊपर के अधिकारी को बताने पर, उन्होंने सहज भाव से स्वीकृति दे दी। मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि मामला इतनी आसानी से हल हो जायेगा। सुबह मैं जल्दी तैयार होकर चिकित्सालय में चला जाता। महाराजजी ने आश्रम से मेरे लिये चाय-नाश्ता चिकित्सालय में ही भिजवाने की व्यवस्था कर दी थी। सुबह खाने-पीने की व्यवस्था में ज्यादा समय नष्ट करने की आवश्यकता न होने के कारण मैं चिकित्सालय में अधिक काल तक लगातार कार्य कर पाता था। दूसरी ओर दफ्तर के अधिकारी, न जाने क्यों, मेरे ऊपर अत्यधिक प्रसन्न हो उठे। इसके फलस्वरूप मेरा कार्य तथा उत्तरदायित्व बढ़ा दिया गया। मुझे ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का भार दिया गया, जिन्हें कर पाना मेरे लिये कठिन था। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं उन्हें कैसे सँभाल सकूँगा। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कार्य के दौरान किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। न जाने कहाँ से मेरे भीतर एक नयी कार्यक्षमता आ गयी। तब मेरे मन में प्राय: ही यह बात आती कि कौन मेरे लिये सारे काम ठीक-ठीक सम्पन्न कर देता है। इसके बाद मेरे ऊपर के अधिकारी ने मुझ पर अत्यन्त सन्तुष्ट होकर मुझे एक ऐसे दफ्तर में रखना चाहा, जहाँ मेरे लिये देर से जाना सम्भव नहीं हो पाता। सामान्य दृष्टि से तो वह एक चाहने योग्य कार्य था, परन्तु उस कार्य के साथ कई तरह के प्रलोभन भी जुड़े थे और इस प्रकार उसमें बदनामी की भी आशंका थी। मैं बड़ी मुश्किल में पड़ा, परन्तु वह मुश्किल भी दूर हो गयी और मुझे उस दफ्तर का उत्तरदायित्व नहीं लेना पड़ा। क्रमश: मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया कि यह सब महाराजजी की कृपा है। उनकी दया से कोई भी अमंगल मेरा स्पर्श नहीं कर सकेगा।

उनकी दिव्य दृष्टि

सम्भवत: १९२८ ई. में, एक बार दफ्तर में मुझे एक तार मिला। घर से आया था, जिसमें लिखा था – ''आपकी पत्नी गम्भीर रूप से बीमार है; तुरन्त चले आइये।'' दफ्तर से लौटते ही आश्रम गया और तार को महाराजजी के सामने रख दिया। महाराजजी ने उसे उड़ती हुई नजर से पढ़ा और हँसना शुरू कर दिया। उन दिनों हम लोग तार से बहुत डरते थे। खूब आवश्यक हुए बिना कोई तार नहीं करता था। इसी धारणा के कारण तार आने का तात्पर्य होता था कि मामला बड़ा संगीन है। इसीलिये महाराजजी की हँसी देखकर मैं किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो गया। मेरी यह अवस्था देखकर वे और भी हँसने लगे। थोड़ी देर बाद वे अपनी हँसी रोककर बोले, ''आप जाना चाहते हों, तो जाइये, पर जाने पर आप देखेंगे कि आपकी पत्नी स्वस्थ-सबल हैं और घर-बार सँभाल रही हैं। चिन्ता की कोई बात नहीं है। गाँव पहुँचकर देखा कि सचमुच ही वे स्वाभाविक रूप से गृहकार्य में लगी हुई हैं। पूछने पर पता चला कि उन्हें एक बुरे प्रकार का घाव हो गया था, जिससे सभी लोग डर गये थे। परन्तु तार भेजने के बाद घाव स्वयं ही बैठ गया और वे स्वस्थ हो गयीं। मैं समझ गया कि महाराजजी सब कुछ देखते और जानते हैं।

तीन-चार वर्ष बाद होनेवाली एक अन्य घटना से यह विश्वास और भी अधिक दृढ़मूल हो गया। उस बार ही इसी तरह का एक तार आया था, जिसमें लिखा था – ''पिताजी गम्भीर रूप से पीड़ित हैं, तुरन्त चले आइये।'' पहले की ही भाँति मैंने इस बार भी तार को ले जाकर उनके सामने रख दिया। परन्तु इस बार वे हँसे नहीं, बल्कि गम्भीर हो गये। कुछ क्षणों के बाद वे बोले, ''तार आया है, आप गाँव चले जाइये। यदि कोई दवा ले जाने की जरूरत हो, तो दवाखाने से ले जाइये।'' परन्तु महाराजजी ने यह नहीं कहा कि भय की कोई बात नहीं है। और उन्होंने जो चिकित्सालय से दवायें

ले जाने की अनुमति दी, इसी से तार पाने पर मेरे मन में चिन्ता हो गयी। पर मैंने महाराजजी के सामने यह बात नहीं कही। उस बार जो आशंका थी, वही हुआ। पिताजी चल बसे। महाराजजी इसे जानने के कारण ही गम्भीर हो गये थे। इसी कारण उन्होंने मुझे आश्वासन के शब्द नहीं कहे थे।

उनकी संवेदनशीलता

१९३४ ई. के बिहार के दारुण भूकम्प में मेरे गाँव का घर धूलिसात हो गया। वहाँ नये गृह-निर्माण की व्यवस्था के समय परिवार के सदस्यों को इलाहाबाद लाने की आवश्यकता होगी, यह सोचकर मैंने बेनी से एक किराये का मकान ढूँढ़ने को कहा। बेनी से यह खबर पाकर महाराजजी ने मुझसे कहा, "आपको मकान ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है। आपका परिवार यहाँ आने पर आश्रम में ही रहेगा। तब, जहाँ तक हो सके, जल्दी अपना घर तैयार कर लीजियेगा। छह महीने के भीतर ही यह कार्य पूरा हो जाना चाहिये। घर तैयार हो जाने पर वे लोग चले जायेंगे।" यह सुनकर मैं सोच में पड़ गया। महाराजजी किसी महिला को आश्रम के प्रांगण में रहने नहीं देते थे, परन्तु मेरे मामले में वे इसका व्यतिक्रम क्यों कर रहे हैं? मेरे परिवार में छह-सात स्त्रियाँ और अनेक बच्चे थे। इसके अतिरिक्त आश्रम में स्त्रियों के रहने से अनेक असुविधाएँ होंगी। फिर छह महीनों में नया घर बन जायेगा, यह भी किस बूते पर कहा जाय – ये ही सारी चिन्ताएँ मन में घुमड़ने लगीं। परन्तु मुझे अधिक दिनों तक सोचना नहीं पड़ा। आश्चर्यजनक रूप से समस्या का समाधान हो गया। गाँव के एक पड़ोसी ने स्वयं अपनी ओर से प्रस्ताव रखकर मेरे परिवार के लिये अपना घर छोड़ दिया और तब तक रहने दिया, जब तक कि हमारा नया घर बन नहीं गया। अत: इलाहाबाद में भाड़े का मकान ढूँढ़ने की जरूरत ही नहीं पड़ी। जिन पड़ोसी ने यह सद्-व्यवहार किया, वे मेरे साथ काफी दिनों से शत्रुता करते आ रहे थे। सहसा उनके व्यवहार में यह जो परिवर्तन हुआ, यह जो उदारता आयी, वह विस्मयपूर्ण थी। इतनी सहजता से समस्या का हल होगा, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मुझे समझते देर न लगी कि महाराजजी की कृपा से ही यह सम्भव हुआ है।

मंत्रदीक्षा

इस घटना के एक वर्ष बाद मेरी दीक्षा हुई। पूजनीय शैलेन महाराज (स्वामी सत्यकामानन्द) ने एक दिन मुझसे कहा, "महाराजजी, इन दिनों दीक्षा दे रहे हैं। आप भी उनसे प्रार्थना करके देखिये न!" उनकी इस बात से प्रेरित होकर, एक दिन अवसर देखकर मैंने महाराजजी से दीक्षा के लिये प्रार्थना की। सुनते ही महाराजजी बोले, "क्या आप पागल हो गये हैं? आप दीक्षा लेकर क्या करेंगे? आप जो कार्य कर रहे हैं, उसी से सब होगा।" मुझे लगा कि अब मेरी दीक्षा नहीं हो सकेगी। महाराजजी मुझे आश्रय नहीं देंगे, इसीलिये मुझसे यह बात कही है।

महाराजजी ने निश्चय ही मेरी मनोवेदना जान ली थी। इस बातचीत के बाद एक दिन शाम को बेनी ने मेरे घर आकर सूचना दी, "महाराजजी ने कहा कि आप कल सबेरे गंगा-स्नान करके आश्रम में आयें।" क्यों आयें – यह उसने नहीं बताया। मैं तत्काल शैलेन महाराज के पास गया। उनसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि महाराजजी कल (१५ जून १९३५ ई. को) सुबह मुझे दीक्षा देंगे। मैंने पूजनीय शैलेन महाराज से पूछा, "साथ में क्या लाऊँगा?" उन्होंने कहा कि यदि महाराजजी कुछ ग्रहण न भी करना चाहें, तो भी मैं दक्षिणा के रूप में कुछ अर्पित करूँ। यथासमय आश्रम के ठाकुरघर में मेरी दीक्षा हुई। उन्होंने मुझे श्री ठाकुर और श्रीमाँ के चित्रों के साथ ही अपना भी एक चित्र दिया। उन्होंने मेरे लिये एक कागज पर मंत्र, ध्यान तथा प्रार्थना की पद्धति एक कागज पर लिख लिया था। वह मुझे दे दिया। कागज में दिनांक के साथ उनका हस्ताक्षर भी था। मुझे मानो एक नया जन्म मिला। दीक्षा के अन्त में मैंने महाराजजी के चरणों में प्रणामी के रूप में कुछ रुपये रखे थे। कितने रुपये – यह अब स्मरण नहीं है, सम्भवत: पाँच रुपये थे।

उनके विविध गुण

महाराजजी कितने बड़े योगी थे, यह सहज ही नहीं समझा जा सकता था। वे एक गुप्तयोगी थे। अपने को छिपाकर रखते थे। अत: बाहर के लोगों को कुछ अनुमान ही नहीं हो पाता था। वे सरल-स्वभाव थे और बच्चों के समान हँसी-खेल पसन्द करते थे। कभी-कभी देखने में आता कि वे बेनी और बड़े मियाँ (जो आश्रम के लिये चन्दा एकत्र करते थे) के साथ खूब हँसी-ठट्ठा कर रहे हैं और उनके कमरे से ठहाकों की आवाज सुनाई दे रही है। कार्य के विषय में ऊँच-नीच का भेदज्ञान उनमें नहीं था। वे केवल मन देखते थे। महाराजजी किसी तरह की गड़बड़ी सहन नहीं कर पाते थे। आश्रम में कमरे के बाहर छोटे बच्चों द्वारा शोर मचाने पर वे स्वयं उन्हें धमकाकर बाहर कर देते थे। फिर किसी-किसी बच्चे के रो पड़ने पर वे बेनी के द्वारा उसे बुलाकर उसे बताशे आदि दे कर चुप कराते थे। महाराजजी का हृदय स्नेहपूर्ण था। हम लोगों के प्रति उनकी गहरी प्रीति थी, पर बाहर वह अव्यक्त रहती थी। वह भीतर-ही-भीतर अनुभव करने की चीज थी।

विनयशीलता

महाराजजी की जीवन-यात्रा जैसी कठोर थी, वैसी ही अनाडम्बर भी थी। उनकी विलक्षण पोशाक की बात सर्वविदित थी। 'अहं-भाव' का उनमें लेशमात्र भी न था। वे प्राय: सभी को 'आप' कहकर सम्बोधित करते थे। रास्ते में किसी परिचित को देखने पर पहले वे ही हाथ जोड़कर नमस्कार करते। इसी

प्रकार कई दिन उन्होंने मुझे भी नमस्कार किया था। इससे मैं बड़े ही संकोच का बोध करता। मैं बोला, "महाराजजी, आप मुझे 'आप' कहते हैं, नमस्कार करते हैं, इससे मुझे दोष लगेगा।" बहुत कहने पर उन्होंने नमस्कार तो छोड़ दिया, पर 'आप' कहना नहीं छोड़ा। यह उनकी एक नीति थी।

आत्मनिर्भरता और सरलता

महाराजजी किसी दूसरे का मुखापेक्षी होना पसन्द नहीं करते थे। यदि हम लोग चाहते, तो चिकित्सालय के लिये सहज ही रेडक्रास सोसायटी से सहायता प्राप्त कर सकते थे। पर वे मना करते थे। कहते – उन लोगों की सहायता लेने से उन लोगों की कई तरह की बातें मानकर चलना होगा। उनकी शर्तों को मानकर चलने से हम लोगों को मन:पूत नहीं होगा। इस क्षेत्र में सहायता नहीं लेना ही अच्छा है।

उनकी शिशुसुलभ सरलता के अनेक चित्र आज याद आ रहे हैं। कहीं जाने की योजना बनाने पर वे एक-एक आदमी को बता देते थे। ठीक, एक छोटे बच्चे के समान, जो कोई भी उनके पास आता, उसी को इस विषय में बताते। इक्के से कहीं जाना होता, तो पुकारकर ऐसी गाड़ी लाने को कहते, जिसका आकार छोटा हो और घोड़ा बिल्कुल तेज न चले। पहले एक बार वाराणसी में वे एक तेज घोड़ेवाले इक्के से गिर पड़े थे, जिससे उन्हें काफी कष्ट हुआ था। इसीलिये यह सावधानी बरतते थे। इक्का आने पर उनका स्वभाव बच्चों की तरह हो उठता। ट्रेन से कहीं जाना होता, तो एक-दो घण्टे पहले से ही स्टेशन पर जाकर बैठ जाते। यह भी उनके बाल-स्वभाव का एक निदर्शन था।

जागतिक विषयों में निस्पृहता

हम लोगों में सांसारिक वस्तुओं के प्रति प्रचण्ड लगाव है। कोई वस्तु खो जाने पर हम लोग बेचैन हो उठते हैं, उसे शत्रु के तीव्र आघात के समान समझने लगते हैं। इस विषय में आश्रम में हुई एक घटना से मुझे विशेष शिक्षा मिली थी। एक बार एक पण्डित – महाराजजी को आश्रम से अनुपस्थित जानकर आश्रम की काफी लकड़ी – करीब दो-तीन मन उठा ले गये। उनका यह कार्य मुझे बहुत बुरा लगा। मन में आया कि महाराजजी की सरलता के भीतर ये लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के उपाय ढूँढ़ते रहते हैं। मैंने बेनी से कहा कि लकड़ी उठाने की बात वह महाराजजी को सूचित कर दे। यथासमय बेनी ने मुझे बताया कि महाराजजी ने सब सुन लिया, परन्तु कहा कुछ भी नहीं। तब मैंने बेनी से कहा, "तुम पण्डित से कहो कि यदि वे अपना भला चाहते हों, तो आश्रम की लकड़ी लौटा दें। मैं इस मामले को सहज ही नहीं छोड़ूँगा।" मैंने नरेन्द्र बाबू (नरेन्द्रनाथ मित्र, महाराजजी के गृही भक्त) के साथ सलाह करके ही बेनी से यह बात कही थी। परन्तु इस विषय में सब कुछ सुनकर भी नरेन्द्र बाबू ने महाराजजी से कुछ नहीं कहा। केवल बेनी को कहा, "हाँ हाँ, लालाजी ठीक आदमी हैं। ये हाईकोर्ट में कार्य करते हैं। इनके दिल में एक विधान रहता है।" नरेन्द्र बाबू की बात में उपहास का पुट था, यह मैं समझ गया। तब मेरी समझ में आया कि जिनकी चीज गयी, वे तो बिन्दु मात्र भी विचलित नहीं हुए हैं, पूर्णत: निर्विकार हैं। वह लकड़ी मेरी दृष्टि में ही मूल्यवान है, महाराजजी की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है।

समय की पाबन्दी

महाराजजी सत्यनिष्ठा तथा समय की पाबन्दी पर विशेष जोर देते थे। वे अपनी बात हिलडोल नहीं होने देते थे। दूसरों से भी यही आशा करते थे। यदि कोई निर्दिष्ट समय पर नहीं आता, तो नाराज हो जाते। उसे 'काला आदमी', 'ब्लैक मैन' आदि कहते। महाराजजी के आचरण से यह शिक्षा मिलती कि कर्म में एक सुश्रृंखला होनी चाहिये और समय की पाबन्दी इस श्रृंखला का एक प्रधान अंग है।

युक्त आहार

महाराजजी मिताहारी थे। रात में केवल दाल-रोटी से उनका काम चल जाता था। दिन में भी वे ज्यादा नहीं खाते थे। परन्तु कभी-कभी वे काफी परिमाण में खा लेते थे। सत्तू उनका एक बड़ा प्रिय खाद्य-पदार्थ था। मेरे गाँव जाते समय वे मुझसे सत्तू लाने को कहते। केवल एक इसी चीज के बारे में कहते। देखा है, वे केवल सत्तू को ही पानी में मिलाकर खा लेते थे – चीनी या और कोई चीज मिलाते थे या नहीं, याद नहीं। एक बार गुरुपूर्णिमा के अवसर पर मैं लड्डू लाया था। महाराजजी ने उसे खाया और प्रशंसा भी की।

साधनामय जीवन

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सामान्यत: लोगों को महाराजजी की आध्यात्मिक जीवनचर्या ज्ञात नहीं थी। बाहर से जरा भी पता नहीं चलता था। जो लोग भीतर की बात जानते थे, वे ही उसे समझ पाते थे। वैसे रात के आठ बजे वे अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर लेते थे और सुबह के साढ़े सात बजे कमरे के बाहर आते थे। सामान्य दृष्टि से लगेगा कि वे सारी रात सोते होंगे। परन्तु अति अल्प लोग ही जानते थे कि वे रात का अधिकांश समय ईश्वर के ध्यान में बिताते थे। एक दिन बातों के क्रम में मुझे इस बात का पता चला। उनकी बीमारी के समय आवश्यक होने पर मैं उनकी चिकित्सा करता था। एक बार उनकी अस्वस्थता के समय रोग के लक्षण मिलाने के लिये मैंने उनसे पूछा, "महाराज, आपको नींद तो अच्छी आती है न?" उत्तर में वे बोले, "रात में मैं ज्यादा सोता नहीं, करीब चार बजे सोता हूँ। उस चार बजे के बाद अच्छी नींद आती है।" उस दिन मैंने समझा कि वे पूरी रात मुख्यत: ध्यान में ही बिताते हैं और उनके सोने का समय मात्र साढ़े तीन घण्टे है – चार से प्रात: साढ़े सात बजे तक!

महाराजजी की ध्यान-धारणा सब निर्जन – एकान्त में होती थी। कभी-कभी वे प्रयाग के संगम पर जाते, परन्तु वह भी अकेले ही। महादेव के मन्दिर में भी जाते थे, परन्तु भीड़ या मेले के समय नहीं। जब भीड़ नहीं होती, उस समय जाते। महाराजजी को भीड़ पसन्द नहीं था।

महानिर्वाण

पहले बता चुका हूँ कि महाराजजी की (अन्तिम बीमारी के समय) मैं उनकी चिकित्सा करता था। वे मेरी दी हुई दवा खाते थे। परन्तु अन्य बीमारियों के समय मैं कुछ नहीं करता था। वे जानते थे कि इस बार उनका देहत्याग होगा। उनकी देहत्याग की इच्छा भी प्रबल हो उठी थी। उस समय उन्होंने किसी भी तरह की चिकित्सा का प्रयोग नहीं किया।

वे चाहते थे कि उनका देहत्याग इलाहाबाद में ही हो। उन्होंने कह रखा ता कि रोग में वृद्धि होने पर बेलूड़ मठ में सूचना न दी जाय। अन्यथा उन्हें आशंका थी कि उन्हें चिकित्सा के लिये कलकत्ते ले जाया जायेगा।

जहाँ तक याद है, १९३८ ई. के अन्त में डॉ. मजूमदार काशी से कलकत्ता जाने के पहले वहाँ से कार में महाराजजी की स्वास्थ्य-परीक्षा करने आये थे। उन्हें काशी-सेवाश्रम से वहाँ भेजा गया था। उनकी गाड़ी ने मुट्ठीगंज आश्रम के सामने आकर हार्न दिया। महाराजजी ने बेनी को यह देखने बाहर भेजा कि बात क्या है। बेनी ने आकर सूचना दी कि उनके स्वास्थ्य की परीक्षा करने काशी से डॉ. मजूमदार आये हैं। डॉ. मजूमदार ने उनकी जाँच की और लाइकोपोडियम-२०० देने का निर्देश दिया। उस दिन मेरे आश्रम में आते ही वे बोले, "जानते हो, आज काशी से एक विख्यात डॉक्टर आये थे। उन्होंने मुझे लाइकोपोडियम-२०० खाने को कहा है।" थोड़ी देर बाद उन्होंने हँसते हुए फिर कहा, "अच्छा लालाजी, यह दवा तो आपने पहले भी कई बार दी है। इससे कुछ काम हुआ है क्या?" मैं बोला, "नहीं महाराज, उससे कोई विशेष लाभ तो नहीं हुआ। परन्तु महाराज, आपकी हालत में अब पहले से कुछ बदलाव आया है। डॉ. मजूमदार ने जब लक्षण मिलाकर यह दवा लिखी है, तो इस बार यह लाभकारी होगी। उन्होंने अवश्य ही सोच-समझकर दवा लिखी है।" महाराजजी ने दवा रख जाने को कहा। यह मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि उन्होंने दवा खायी या नहीं।

ठीक एक सप्ताह बाद डॉ. मजूमदार फिर आये। पहली बार की भाँति ही आश्रम के सामने उनकी गाड़ी का हार्न बज उठा। महाराजजी ने इस बार बेनी के द्वारा कहला भेजा कि वे ठीक हैं और जाँच करने और दवा देने की आवश्यकता नहीं है। डॉ. मजूमदार को इस बार अन्दर आने का मौका ही नहीं मिला। आखिरकार वे बाहर से ही लौट गये।

महाराजजी का शरीर भीतर से टूट चुका था। ठाकुरजी का जितना भी कार्य बाकी था, उन्हें सम्पन्न करने के लिये ही मानो उन्होंने बलपूर्वक अपने शरीर को बचा रखा था। बेलूड़ मठ में ठाकुरजी का मन्दिर बनने के बाद नये मन्दिर में उनकी पहली पूजा के समय महाराजजी पहले की ही भाँति वहाँ गये थे। इस बार जब वे कलकत्ते से वापस आये, तो उनकी आँखों तथा मुख-मण्डल पर एक परम प्रशान्ति का भाव फैला हुआ था। मुझे अब भी याद है कि आश्रम में आने पर उन्होंने किस प्रकार कुरता, टोपी आदि सब एक-एक करके खोलकर फेंक दिया था। उन वस्तुओं के प्रति उनका आचरण ऐसा था मानो वे भारमुक्त – दायित्वमुक्त हो गये हों। जिस प्रकार अवज्ञा के भाव से उन्होंने वस्त्र-परिधान आदि को निकालकर बाहर फेंक दिया, उसी प्रकार उसी भाव से वे अपने शरीर का भी त्याग करने को प्रस्तुत हैं, यह बात उस समय भी समझ में नहीं आयी थी, या फिर समझने की इच्छा भी नहीं थी। परन्तु इसका आभास उन्होंने दे दिया था।

कलकत्ते से लौटने के बाद से उन्होंने खाना-पीना एक तरह से छोड़ ही दिया था। बार्ली, जल तथा चाय के सिवा वे विशेष कुछ खाते ही नहीं थे। अन्त में रोग के बढ़ने पर उन्हें बहुत कष्ट हुआ। नहीं, उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ, कष्ट उनके शरीर को हुआ। और कष्ट उन लोगों को भी हुआ, जो उनके निकट थे। वे तो रोग-पीड़ा के ऊपर थे, इसीलिये वे पीड़ा को दूर करने के लिये तिल मात्र भी विकल नहीं हुए। उसी कारण उन्होंने बिना चिकित्सा के देहत्याग कर दिया।

उनके महाप्रयाण का दिन भूल नहीं पाता। मैं तो अपना वह आश्रय ही खो बैठा, जिससे जाने या अनजाने, समझकर या बिना समझे अपनी प्राणशक्ति प्राप्त किया करता था। तो यह कहकर मैंने अपने मन को समझाया, "इतने बड़े महापुरुष के सान्निध्य में सुदीर्घ तेरह वर्ष बीते हैं, यह मेरा महा सौभाग्य है। उनकी पवित्र स्मृति ही मेरे परवर्ती जीवन का पाथेय है।"

अपना बाकी जीवन मैं महाराजजी के आदेशानुसार ही चलाने की चेष्टा कर रहा हूँ। एक दिन उन्होंने कहा था, "आप चिकित्सालय में बैठेंगे, तो वह खुली रहेगी।" एक अन्य दिन वे बोले, "आप जिस काम में हैं, वही आपके लिये सब है।" इन दोनों वाक्यों को हृदय में सँजोये हुए हूँ। इसी कारण हाईकोर्ट की नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी लौटकर छपरा नहीं गया। वैसे बीच-बीच में अपने गाँव अवश्य जाता हूँ, पत्नी-पुत्रों को देख भी आता हूँ, पर अब भी इलाहाबाद के चिकित्सालय का कार्य सँभालता हूँ। मुट्ठीगंज के आश्रम में रहता हूँ। यहाँ उनकी पुण्य स्मृतियों का स्पर्श पाता हूँ। नहीं जानता कि परमार्थ की दिशा में कितना आगे बढ़ा हूँ; और जानने की जरूरत भी क्या है? उनकी कृपा से इतना ही समझता हूँ कि उन्हीं को पकड़े रख सकूँ, तो यही यथेष्ट होगा। **(१९७० के दशक में लिखित)**
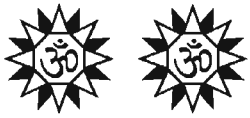
स्वामी प्रेमानन्द के संग में (३१)
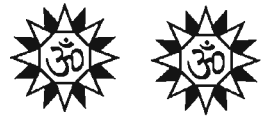
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे। बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

२. कलकत्ते में प्लेग

१८९८ ई. में कलकत्ते में प्लेग का आविर्भाव हुआ और बहुत-से लोग उस रोग से आक्रान्त होकर मौत के मुख में समा गये। ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वहाँ कोई ऐसा मुहल्ला या घर नहीं था, जिसमें कोई-न-कोई इस रोग से आक्रान्त या मृत्यु का ग्रास न बना हो। इसके क्रमश: संक्रामक रूप धारण कर लेने पर कलकत्तावासियों के मन में परम आतंक की सृष्टि हुई। जिसे जहाँ सुविधा हुई, वह सपरिवार वहीं भाग रहा था। हर चेहरे पर आतंक की रेखा थी, रेलगाड़ियाँ निरन्तर रवाना होकर यात्रियों को बाहर भेज रही थीं। और तत्काल उसमें लोग भर जाते थे। स्टेशन लोगों से पटा हुआ था। कोई कोई टोली दो-तीन दिन प्रतीक्षा करके भी गाड़ी में सवार नहीं हो पा रही थी। उस विपत्ति और आतंक के समय की अपने जीवन की दो-एक घटनाएँ पूजनीय गंगाधर महाराज ने बतायी थीं।

गंगाधर महाराज – १८९८ ई. में कलकत्ते में प्लेग का प्रकोप चल रहा था। स्वामी विवेकानन्द इसकी खबर पाकर दार्जिलिंग पहाड़ से नीचे उतर आये। तब मठ नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान में था। बेलूड़ मठ की जमीन अभी हाल ही में खरीदी गयी थी। प्लेग के भय से कलकत्ते के लोग जहाँ-तहाँ भाग रहे थे। और सरकार बलपूर्वक सबको प्लेग का टीका लगवा रही थी। इससे अज्ञानी लोग समझते कि सरकार जबरन वह टीका लगवाकर प्लेग का बीज और भी फैला रही है। इसीलिए सरकार की ओर से जो आदमी टीका देने आता, उसे कभी-कभी मार तक खाना पड़ता था।

''उस समय स्वामीजी ने हम सबको बुलाकर कहा, 'देखो, तुम लोग भगवान श्रीरामकृष्ण की सन्तान हो, अमृत के पुत्र हो, हम लोगों को मृत्यु-भय को तुच्छ मानकर प्लेग के रोगियों की सेवा करनी होगी। इनकी सेवा करने, औषधि देने और चिकित्सा कराने में यदि इस नवीन मठ की जमीन भी बेच देनी पड़े या अपना जीवन तक विसर्जित कर देना पड़े, तो भी हम लोग तैयार हैं। हमारे सामने तोप, बायीं ओर तोप और दाहिनी ओर भी तोप है! हमारे सामने, पीछे, दाहिने, बाएँ – संकट है! इस संकट के भीतर भी हमें अपना कर्तव्य पूरा किये जाना होगा, प्रश्न करना नहीं चलेगा – Ours to do and die, ours not to question why. आओ, हम सभी उनका नाम लेकर मृत्यु-समुद्र में छलांग लगाने को तैयार हो जायँ। हम लोग भगवान श्रीरामकृष्ण की सन्तान हैं, अमृत के पुत्र हैं, हमें भला किसका भय?

''स्वामीजी ने हिन्दी तथा बँगला में कई हजार पत्रक छपवाए। उसमें लिखा था –

माभैः माभैः माभैः

जय जगदम्बा, जय जगदम्बा, जय जगदम्बा।

हम बेलूड़ मठ के कतिपय संन्यासी, इस (पत्रक) के द्वारा सबको सूचित करते हैं कि जो लोग सरकारी या किसी अन्य अस्पताल से चिकित्सा ग्रहण करने के अनिच्छुक हों, हमने उन सबके अपने-अपने धर्मभाव की रक्षा करते हुए, उनका सेवा के लिए कैम्प या अस्थायी अस्पताल खोला है।'' उसमें और भी लिखा गया – ''यह अफवाह झूठा है कि टीका लगवाने से प्लेग और भी बढ़ रहा है, क्योंकि सरकार कभी प्रजा का विनाश नहीं कर सकेगी।'' आदि।

''मैंने स्वयं ही इसका हिन्दी अनुवाद किया और मुद्रित कराने के बाद स्वयं ही उन्हें बाँटने कलकत्ता गया। मेरे पास प्लेग का कोई कागज है, ऐसा सुनकर हैरिसन रोड पर इतनी बड़ी भीड़ ने मुझे घेर लिया कि वहाँ किसी हादसे की आशंका उत्पन्न हो गई। ऐसी हालत देखकर मैं एक-एक मुट्ठी पर्चे उठाकर एक एक दुकान की ओर फेंकने लगा। लोग उसी ओर दौड़ पड़े। और मैं थोड़ा आगे बढ़ा। फिर वैसे ही बहुत-से लोगों ने आकर मुझे घेर लिया। मैंने एक मुट्ठी पर्चे उठा कर उधर भी फेंक दिये। इसी प्रकार करते हुए किसी तरह मैं टकसाल के पास जा पहुँचा। वहाँ के एक भक्त के साथ मेरा परिचय था। पर्चे बाँटना बन्द करके मैं शौच करने गया – उस समय मेरा पेट खराब था। शौचादि के बाद टकसाल के नीचे एक स्टूल पर बैठकर मैंने उन पर्चों का वितरण किया।

''दूसरे दिन वहीं पर बैठकर मैं पर्चे बाँट रहा था। लगभग डेढ़ बजे वहाँ एक व्यक्ति को बैठाकर मैं ऊपर मुँह धोने गया था कि चार-पाँच गुण्डे नीचे से ऊपर मेरी ओर अंगुली दिखा रहे थे। उस भक्त ने मुझे नीचे उतरने से मना किया और जल्दी कमरे के भीतर घुस जाने को कहा। वे भक्त तथा अन्य लोग, नीचे उन गुण्डों तथा मुझे मारने के लिए तैयार वहाँ एकत्र हुए लोगों को खूब समझाते हुए बोले कि टीका लगवाने से कोई हानि नहीं, बल्कि अच्छा ही होता है, ये सरकारी आदमी नहीं हैं, आदि आदि। इस प्रकार समझाकर उन लोगों

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

बुआ की स्मृति

लालमोहन दास (लालू मछुआरा)

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

हमारी 'बुआ' साधारण मानवी नहीं, साक्षात् देवी थीं। शुरू में हम में से कोई उन्हें समझ नहीं सका, मानवी समझकर ही आदर करते थे। उनसे मुरमुरे-लाई माँगकर खाते थे। उन्हें समझ न पाने पर भी, वे हम लोगों की बड़ी अपनी थीं। वह आकर्षण मैंने हमेशा अनुभव किया है। दो-एक घटनाएँ याद आ रही हैं। उस समय तो इन पर विचार किया, पर बाद में समझ में आया कि वे मानवी नहीं, साक्षात् देवी थीं।

मेरा जन्म सातबेड़े के जेलेपाड़ा में हुआ। मछली पकड़ना हमारा पुश्तैनी धन्धा था – बाप-दादे यही करते आये थे। अत: हम भी वही करते, पर वर्षा काल में खेती भी होती थी। उस समय मैं छोटा था। हमारे गाँव में दुर्लभ बड़ाल बाउल गीत सीखकर आये और हम लोगों को भी सिखाने लगे। मुझे बचपन से ही गाने का बड़ा शौक था। बड़ाल महाशय मांत्रिक तथा काली के उपासक थे। वे मेरे गले की प्रशंसा करते। कहते, "लालू, तेरी आवाज अच्छी है – तू सीख सकेगा। बस, लगे रहना। रोज थोड़ा गाने का अभ्यास करना।" मुझे भी धुन सवार हो गया। इस प्रकार कई साल तक गाने सीखता रहा। उसके बाद मन में इच्छा जगी कि कहीं जाकर गाऊँ। जो पैसे एकत्र हुए थे, उनसे बाउल की पोशाक, घुँघरू, डुगडुगी आदि खरीद लाया।

उन दिनों जयरामबाटी में जगद्धात्री-पूजा की बड़ी धूम थी। हम लोगों का वहाँ खूब आना-जाना था, क्योंकि बाजार करने हम प्राय: ही जयरामबाटी और उसके पास के गाँवों में जाते। मेरी इच्छा हुई जयरामबाटी की जगद्धात्री-पूजा में ही बाउल गीत गाऊँ। ब्रह्मचारी महाराज से कहने पर उन्होंने बुआ से पूछने को कहा। मैंने घर के अन्दर जाकर बुआ से कहा कि मैं जगद्धात्री-पूजा में बाउल गीत गाऊँगा। बुआ हँसते हुए बोलीं, "तू भला गायेगा? मछली पकड़ते-पकड़ते गाने कब सीख लिये?" मैंने कहा, "नहीं बुआ, दुर्लभ बड़ाल से मैंने साल भर गाने सीखे हैं। बड़ी इच्छा है कि कम-से-कम एक रात तो अवश्य गाऊँ। तुम्हें परेशान होने की जरूरत नहीं। मैं ही शामियाने और लालटेन की व्यवस्था कर लूँगा। देखना, अच्छा ही होगा।"

बुआ सहमत हो गयीं। मैंने गाया। गाने बहुत सुन्दर हुए थे। वरदा महाराज (स्वामी ईशानानन्द) केदार मास्टर (स्वामी केशवानन्द), किशोरी महाराज (स्वामी परमेश्वरानन्द), विभूति बाबू तथा और भी कई लोग थे। जयरामबाटी में मैंने केवल एक बार ही नहीं, कई बार बाउल-गीत गाये हैं।

जयरामबाटी हमारे गाँव की ही तरह था। वहाँ के तालाब में मछली पकड़ने और घर-घर मछली बेचने हम लोग हमेशा उधर जाया करते थे। मेरी पत्नी किशोरी और चारों बेटे (अतुल, गोकुल, पंचानन और सुबल) – सबको बुआ का

पिछले पृष्ठ का शेषांश

को भगाने के बाद उन्होंने मुझे ट्राम में चढ़ा दिया।

"मैं फिर उन पर्चों को लेकर वितरण करने कालीघाट गया। आदिगंगा से लेकर माँ के मन्दिर तक जानेवाले बड़े रास्ते पर जो फूलों की दुकान है, उसी में बैठकर मैं पर्चे बाँटने लगा। उसमें प्लेग और टीका की बात है, ऐसा सुनकर मेरे पास बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी। अन्तत: दो-एक पुजारियों ने आकर मुझसे कहा – 'लगता है बड़ा रस आ रहा है, एक लाठी ला तो ! बेटा गेरुआ पहनकर पाखण्ड कर रहा है। सरकार से कितने पैसे खाया है?' इसी प्रकार सब मेरी हँसी उड़ाने लगे।

"इनकी बुद्धि तो देखो, जिनकी भलाई के लिए अपना धन, सामर्थ्य और शारीरिक अस्वस्थता को भुलाकर निःस्वार्थ भाव से पर्चे बाँट रहा हूँ और रोगियों की सेवा कर रहा हूँ, वे ही लोग ऐसा उपहास कर रहे थे !!

"पुलिस का एक जमादार मेरा पक्षधर था। उसने मेरे पास आकर कहा – महाशय, जल्दी से उठकर मेरे साथ चले आइये, नहीं तो ये लोग आपको पीट डालेंगे। आजकल टीके के भय से सभी नाराज हैं, आप शीघ्र मेरे साथ चले आइये। इतना कहकर वह मुझे थाने ले गया। फिर संध्या होने के थोड़े बाद भीड़ कम हो जाने पर मैं भागकर बलराम बाबू के घर चला आया।"

❖ (क्रमशः) ❖

खूब स्नेह-आशीर्वाद मिला। काम से फुर्सत मिलने पर और विभिन्न उत्सवों के समय ये सभी जयरामबाटी पहुँच जाते।

शुरू में मैं समझ नहीं सका कि मेरी बुआ साक्षात् देवी हैं। एक दिन की घटना मैं आजीवन भूल नहीं सकता। उस दिन मैं बुआ के घर के सामने पुण्यपुकुर में मछलियाँ पकड़ने गया था। सम्भवत: रासपूर्णिमा का दिन था। देखा – बुआ अपनी दोनों भतीजियों के साथ तालाब के किनारे खड़ी हैं। शायद भतीजियों ने मछली पकड़ना देखने के लिये जिद किया होगा, अत: वे बाध्य होकर वहाँ आयी होंगी – यही सब सोच रहा था, तभी बुआ की ओर निगाह उठाते ही एक अद्भुत दृश्य देखा ! – बुआ अपनी भतीजियों को एक ओर खड़ा करके तालाब के किनारे-किनारे पूर्व की ओर कहीं जा रही हैं। थोड़ी ही देर में देखता हूँ कि उनके साथ और भी दो स्त्रियाँ हैं – ठीक उन्हीं के जैसी साड़ी, वैसा ही साड़ी की किनारी और उन्हीं के जैसे सिर पर घूँघट भी था। यद्यपि मैं उन्हें बिल्कुल सामने से नहीं देख पा रहा था, तो भी देखकर लगा कि दोनों के मुख की आकृति भी बुआ की तरह थी। यह दृश्य देखकर मैं चौंक पड़ा। जल्दी पानी के बाहर आकर देखने की इच्छा हुई। पर सब कुछ विधाता की इच्छा से ही तो होता है ! ज्योंही मैं तालाब के किनारे आने लगा, एक बड़ी मछली मुझे अपनी पूँछ से मारती हुई निकल गयी। मैं बाहर निकलने की बात भूलकर जाल ठीक करने लगा। बाद में जब मैं तालाब के बाहर गया, तो बुआ से बातें भी हुईं, पर उस दिन तालाब के किनारे जो कुछ देखा था, वह सब उन्हें बिल्कुल नहीं बताया। बाद में एक दिन मैंने बुआ को अकेली देखकर पूछा, "अच्छा बुआ, मछली पकड़ने वाले दिन जब आप भतीजियों को लेकर तालाब के किनारे गयी थीं, तब आपके साथ – ठीक आपकी ही उम्र की, देखने में आपके ही जैसी, आपके जैसी ही साड़ी पहनी हुई – वे दो महिलाएँ कौन थीं? बुआ बोलीं, "और कौन होगा? मैं उन लोगों को खड़ी करके बेल के वृक्ष के नीचे यह देखने गयी थी कि साग हुआ है या नहीं। राधू और माकू तो इस ओर खड़ी थीं।" मैंने पुन: कहा, "नहीं बुआ, आप जब बेल के पेड़ के नीचे जा रही थीं, तब मैंने दो स्त्रियों को आपके आगे-पीछे देखा था। यह भी देखा कि आप बीच में थीं।" बुआ हँसकर बोली, "तेरा पेट गरम हो गया है, ले मिश्री का शरबत पी।" इतना कहकर बुआ कमरे में चली गयीं। मैं फिर चौंक गया – फिर वही दृश्य देखा। मैं चिल्ला उठा, "बुआ !" वे कमरे में से बोलीं, "लालू, जरा बैठ, प्रसाद लेकर जाना।" बाद में उन्होंने आकर लाई के लड्डू और फल प्रसाद दिये। बुआ ने उस दिन स्वीकार तो नहीं किया, पर मैं वह दृश्य भला कैसे भूल सकता हूँ ! एक ही जैसी चेहरेवाली दो स्त्रियों को बुआ के आगे-पीछे चलते दो-दो बार देखा है।

बुआ के घर के प्रति हम सभी का बड़ा आकर्षण था। हम लोगों के खेत में, जो भी फसल होता, उसे बुआ के घर भेज देते। हमारी तिल, सरसों और अरहर की खेती थी। बुआ पिसे हुए तिल के पकौड़े पसन्द करती थीं। तिल के लड्डू भी अच्छा बनाती थीं। मेरी पत्नी खलबत्ते में तिल कूटकर छिलके उतारकर बुआ को दे आती। बुआ उसे नयी साड़ी देती। बुआ के यहाँ उत्सव होने पर मैं जिभटा, देशड़ा, हरिशोभा के तालाब से कमल खोजकर ले आता। उन दिनों जगद्धात्री-पूजा में कमल के फूल लाकर देने का दायित्व मेरा था। मैं कई वर्षों तक बुआ के यहाँ कमल के फूल व पत्ते देता रहा।

हमारे घर में किसी के बीमार पड़ने पर हम लोग सिंहवाहिनी की मिट्टी ले आते। उसकी भी एक घटना है। एक बार मेरा बड़ा बेटा खूब बीमार पड़ा। मैंने बुआ को बताया। बुआ सिंहवाहिनी का फूल तथा मिट्टी लाकर हाथों में देती हुई बोलीं, "इसे लड़के के सिर से छुआना और यदि हो सके तो आरामबाग के प्रभाकर (डॉक्टर) के यहाँ से दवा लाकर बच्चे को खिलाना।" मैंने वैसा ही किया। उससे लड़का स्वस्थ हो उठा। एक बार दुर्गापूजा के समय पूरे परिवार को चेचक हुई। उस समय मैंने कोतुलपुर के प्रतिष्ठित लोगों के घर गाने का जिम्मा लिया था। वहाँ बाउल गाने गया। लगातार तीन दिनों का कार्यक्रम था। अन्य गानेवाली मण्डलियाँ भी आयी थीं। मुझे नवमी के दिन से गाना था। अष्टमी की शाम को गाँव से बीमारी की खबर आयी। यह बात मैंने बाबू लोगों से कही। उन लोगों ने कहा, "लालू, तुम्हारा परिवार विपत्ति में है, तू घर चला जा। अगले वर्ष आकर गाना।" मैं दुखी मन से लौट गया। घर पहुँचकर जो हालत देखी, तो मन बड़ा दुखी हो गया। दोनों बेटों और उनकी माँ को चेचक हुआ था। कौन किसको पानी पिलाये, इसका ठिकाना ही नहीं !

उस समय दिमाग काम नहीं कर रहा था। बदहवास की तरह भागकर जयरामबाटी गया। जाकर सुना कि बुआ कलकत्ता गई हैं। सिंहवाहिनी से फूल तथा मिट्टी लिया, लेकिन मन में बड़ा अभिमान हुआ। मन-ही-मन बुआ से बोला, "इस संकट के समय तुम भी बाहर हो!" तत्पश्चात् लौट आया। रात में स्वप्न देखा – कमरे का दरवाजा खुला है, पत्नी-पुत्र आदि सब कमरे में सोये हैं। देखा कि बुआ सहसा मेरे कमरे में घुसीं और उसके बाद तेजी से बाहर चली गयीं। मैं भी सो गया। सुबह होते-होते यही स्वप्न दुबारा देखा। देखा – बुआ कह रही है, "लालू ! तूने कहा था न कि मैं भूल गयी हूँ, देख मैं तो यही हूँ !" नींद टूट गयी। देखा कोई नहीं। इसके बाद पत्नी-पुत्र आदि शीघ्र ही स्वस्थ हो उठे।

देखते-देखते वह साल बीत गया; नया वर्ष आया। इच्छा थी कि इस वर्ष सप्तमी के पहले से ही कोतुलपुर में बाबुओं के यहाँ गाने जाऊँगा। तदनुसार जाने की तैयारी कर रहा

था। आश्विन का महीना आया। सहसा मन में आया – इस वर्ष कोतुलपुर में नहीं, बल्कि घर में ही पूजा करूँगा। मेरी बात सुनकर गाँव के लोग मेरी हँसी उड़ाने लगे। बोले, ''लालू ! तू पागल हो गया है। पूजा करना क्या हँसी-खेल है? घर के बड़ों ने कहा, ''जब तेरी इच्छा हुई है, तो नवमी के दिन घट में माँ की पूजा कर। उसमें भी खर्च तो आयेगा ही, लेकिन काफी कम आयेगा।'' उसी के अनुसार मैंने नवमी के दिन घट में देवी की पूजा की व्यवस्था की।

उस दिन संध्या के समय आँगन में शमियाना लगाकर लालटेन जलाकर बाउल गीतों का कार्यक्रम शुरू हुआ। मैंने ही पहला गाना गया। गीत दो-तीन घण्टे चलते रहे। तभी मैंने एक अद्भुत दृश्य देखा। बाहर आँगन में जहाँ घट में देवी-पूजा हो रही थी, वहाँ से मैं दृष्टि नहीं हटा सका। आँगन खचाखच भरा था। गाने ठीक जमें थे। सहसा देखा घर के पास बुआ के जैसा ही कोई खड़ा है। मैंने सोचा – थकावट के कारण उल्टी-सीधी चीजें देख रहा हूँ। इधर दृष्टि घुमाने के बाद पुन: उस ओर देखा – द्वार पर धुँधले प्रकाश में मैंने देखा – पतली लाल किनारी की साड़ी पहने बुआ ही खड़ी हैं। तीन बार नजरें हटाकर देखा, हर बार वही दृश्य ! अब मैं ठहर न सका, मुख्य द्वार की तरफ दौड़कर उनके चरणों में सिर टेककर बोला, ''बुआ, तुम्हारी इतनी दया !'' उसके बाद मेरी बाह्य चेतना जाती रही। अब से मुझे कोई सन्देह नहीं रह गया कि बुआ सचमुच मनुष्य नहीं, देवी हैं। तो भी मेरा दुर्भाग्य यह है कि जब यह सब घटित हुआ, उसके बाद ही बुआ हम लोगों को छोड़कर चली गयीं।

तो भी एक बात दावे से कह सकता हूँ – बुआ की दया से ही मेरे समान एक अपढ़ व्यक्ति बाउल गायक हो सका। मैं पढ़ना-लिखना कुछ भी नहीं जानता, शुरू-शुरू में शिक्षक के सिखाये हुए गीतों को सुन-सुनकर उन्हें याद करके गाता। बाद में मैं स्वयं ही गीत बनाने लगा। बीच में घर के अनेक झंझटों में उलझकर एक बार सोचा कि गाना छोड़ दूँगा। बाउलों का चोंगा कचरे में फेंक आया। लड़कों ने यह बात जाकर बुआ से बतायी। बुआ ने मुझे बुलाकर कहा, ''अरे लालू, गाना मत छोड़ना; इसमें ठाकुर की बातें हैं। देखना सब ठीक हो जायेगा।'' उसके बाद लगन से बाउलों की टोली बनायी। कई जगह से बुलावा भी आया है। बेजो सन्तोषपुर, सालझाड़, रामजीवनपुर, कोतुलपुर, शिहड़, कोयालपाड़ा, श्यामबाजार, आनुड़ – और भी अनेक स्थानों में गाया है ! सब बुआ की कृपा से हुआ है !

बाद में, सातबेड़े गाँव का पूरा जेलेपाड़ा ही बुआ का भक्त हो गया था। किसी के घर पर कटहल पकने पर वह बुआ के घर दे आता। जिसके यहाँ केले पकते, तो वह पहले बुआ को दे आता। बुआ को शुशनी का साग बड़ा पसन्द था। हमारे यहाँ वह बहुत होता था। मैं दो-चार दिन के अन्तर से वह साग बुआ को दे आता। यहाँ के सतीश पण्डित, निताई पण्डित, प्रह्लाद विश्वास, वरदा विश्वास, नित्यदास और राम कुण्डू – बाउल टोली में मेरे साथ रहते। ये लोग भी बुआ के बड़े भक्त थे ! लौकी, इमली, केला, पपीता, अरहर – जिसकी जैसी सामर्थ्य होती, वह वैसा ही कुछ लेकर बुआ से मिलने जाता। बुआ सबको प्रसन्नता बाँटतीं।

एक बार सातबेड़े के मछुआरों के बीच तालाब में मछली-पालन के विषय में कुछ विवाद हुआ। इस पर जिबटा के जमींदार बाबुओं ने हमसे अपना तालाब वापस ले लिया और धमकी दी कि वे वह तालाब दूसरे गाँव के मछुआरों को दे देंगे। हमारे ही मुहल्ले के तालाब में अन्य गाँव के मछुआरे आकर मछली पालें और हमारे बाल-बच्चे बेवस देखते रहें – ऐसा कैसे होगा? परन्तु बाबू लोगों की जिद् – जो कह दिया, वही करेंगे। सभी मछेरों को बड़ा दुख हुआ। संकट इतना ही नहीं था, बाबू लोगों ने अपने सिपाहियों से आदेश भिजवाया कि हमारे मुहल्ले के किसी भी व्यक्ति को खेती नहीं करने देंगे। सबके सिर पर मानो वज्रपात हुआ। एक दिन शाम को हम सभी एकत्र होकर जयरामबाटी गये और बुआ से सारी बातें कहीं। सुनकर बुआ बोलीं, ''यह कैसी बात ! तुम लोगों के मुहल्ले के तालाब में अन्य गाँव के मछुआरे आकर मछली पालेंगे ! फिर तुम लोगों के बाप-दादे भी तो इस तालाब का उपयोग करते आये हैं ! यह तो बड़ा अन्याय होगा ! जमीन आदि वे लोग चाहे जिसे दें, पर मछली तुम लोग क्यों नहीं पालोगे? तुम लोग शान्तिपूर्वक उनके पास जाओ और अपनी बात कहो। वे अवश्य अपनी गलती समझ जायेंगे।'' बुआ के कथनानुसार हम लोग बाबुओं के पास गये और अपनी बात कह सुनायी। इतना बड़ा जमींदार ! न जाने क्या हुआ कि बिल्कुल पसीज गया; पुन: हमीं लोगों को मछली पालने के लिये तालाब और खेती करने के लिये जमीन भी दे दी।

जिस दिन बुआ आखिरी बार जयरामबाटी छोड़कर गयीं, सातबेड़े गाँव के हम कई लोग वहाँ उपस्थित थे। मेरी पत्नी-पुत्र भी थे। सभी खूब रो रहे थे। उस समय हम लोग जरा भी नहीं समझ सके थे कि बुआ से दुबारा भेंट नहीं होगी। जाति से मछुआरे होते हुए भी मैंने उनके चरण छुए हैं। बुआ ने कभी मना नहीं किया, बल्कि कहतीं, ''अरे लालू, तूने कौन-सा नया गीत बनाया है? जरा सुना !'' उनकी इसी बात के लिये तो गाने बनाना सीखा। नया गाना बनाने पर पहले बुआ को सुना आता। उनसे कितना हठ किया है ! कितनी समस्याओं में उलझकर दौड़ा-दौड़ा उनके पास गया हूँ ! उनके आशीर्वाद से सब ठीक हुआ। आज सोचता हूँ - मेरा जन्म सार्थक हो गया है ! मानव-देह में जन्म लेकर देवी के चरण छूने का सुयोग मिला। यह कितने सौभाग्य की बात है ! ❖ **(क्रमश:)** ❖

स्वामीजी का गाजीपुर-प्रवास (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

पिछले अंक में हम बता आये हैं कि स्वामीजी ने इलाहाबाद से २१ या २२ जनवरी, १८९० को गाजीपुर की यात्रा की थी। कदाचित् गाजीपुर के मुंशिफ श्रीशचन्द्र बसु के सुझाव पर ही उनकी यह यात्रा हुई थी। स्वामीजी के वहाँ जाने तथा करीब ढाई माह बिताने का मुख्य कारण था – सुप्रसिद्ध योगी पवहारी बाबा से मिलना और उनसे कुछ सीखना। उनकी जीवनियों तथा साहित्य में इस विषय में काफी विवरण बिखरे पड़े हैं। उन्हीं में से हम कुछ का संकलन तथा संयोजन करके यहाँ सिलसिलेवार प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

पवहारी बाबा की प्रसिद्धि

स्वामीजी अपनी तरुणावस्था से ही ब्राह्मसमाज से जुड़े हुए थे। गाजीपुर भारत में अफीम के उत्पादन का एक प्रमुख केन्द्र था और उससे सम्बन्धित सरकारी विभाग में कलकत्ते के अनेक लोग, कुछ ब्राह्मसमाजी भी कार्यरत थे। उन्हीं के माध्यम से गाजीपुर के निकट गंगातट के पास एक गुफा बनाकर उसी में निवास करनेवाले सिद्ध योगी पवहारी बाबा का नाम कलकत्ते और वहाँ से सारी दुनिया में जा पहुँचा। १८८० ई. में ब्राह्मनेता केशवचन्द्र सेन ने गाजीपुर में कार्यरत नीलमाधव घोष से पवहारी बाबा के बारे में सुना और उन्होंने अपने शिष्यों तथा अनुरागियों के साथ वहाँ जाकर उनका दर्शन किया तथा बातचीत भी की। उन्होंने अपनी 'The New Dispensation' पत्रिका के २५ जून १८८१ के अंक में 'Distinguished ascetic Saints' (उल्लेखनीय तपस्वी सन्त) शीर्षक के साथ उन्होंने एक लेख लिखा, जिसमें चार महात्माओं में पवहारी बाबा का भी उल्लेख किया है।[१]

केशव के साथ सम्बन्ध के कारण श्रीरामकृष्ण भी पवहारी बाबा के नाम से सुपरिचित थे। २७ अक्तूबर १८८२ के दिन उन्होंने केशव, विजय तथा गाजीपुर के नीलमाधव घोष के साथ गंगाजी में स्टीमर पर विचरण किया था। उस समय नीलमाधव तथा एक ब्राह्मभक्त ने पवहारी बाबा का प्रसंग उठाया। ब्राह्मभक्त बोले, "महाराज, इन लोगों ने पवहारी बाबा को देखा है। वे गाजीपुर में रहते हैं, आपकी तरह एक और हैं। ... पवहारी बाबा ने अपने कमरे में आपका फोटोग्राफ रखा है।" श्रीरामकृष्ण जरा हँसकर अपनी देह की ओर उँगली दिखाकर बोले, "यह गिलाफ !" उनका तात्पर्य यह था कि देह तो गिलाफ के समान है, उसका फोटो लेकर क्या होगा? देह के भीतर जो अन्तर्यामी भगवान हैं, उन्हीं का महत्व है। फिर बोले, "परन्तु एक बात है। भक्तों का हृदय उनका निवासस्थान है। भक्तों के हृदय में वे विशेष रूप से रहते हैं। जैसे कोई जमींदार अपनी जमींदारी में सभी जगह रह सकता है, पर लोग कहते हैं कि अमुक बैठक में वे प्राय: रहते हैं। भक्तों का हृदय भगवान् का बैठकघर है।"[२]

केशवचन्द्र के निर्देशानुसार त्रैलोक्यनाथ सान्याल ने 'नव-वृन्दावन नामक एक नाटक लिखा, जो १८८२ ई. के मई में प्रकाशित हुआ। २५ जनवरी १८८३ को केशव के घर में इस नाटक का मंचन हुआ। निमंत्रण पाकर श्रीरामकृष्ण भी इसे देखने गये थे।[३] इसमें केशव चन्द्र और नरेन्द्रनाथ ने भी अभिनय किया था। उन्होंने इसमें क्रमश: पवहारी बाबा और योगीवर अभेदानन्द की भूमिकाएँ ग्रहण की थीं।[४]

इस प्रकार स्वामीजी काफी पहले से ही उनके नाम से सुपरिचित थे और सम्भवत: इलाहाबाद में उनकी चर्चा उठने पर उनके मन में वहाँ जाकर उनसे मिलने की इच्छा हुई हो।

रेलयात्रा के दौरान एक रोचक घटना

१८ या १९ जनवरी को सुबह वे इलाहाबाद से ट्रेन में सवार होकर गाजीपुर के लिये रवाना हुए। इस यात्रा के दौरान एक बड़ी रोचक घटना हुई, जिससे यह सिद्ध होता है कि उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण सर्वदा उनके साथ-साथ रहकर उनकी देखभाल कर रहे हैं। यात्रा के समय स्वामीजी के पास तीसरे दर्जे का एक टिकट, एक कम्बल और पहनने के लिए एक गेरुआ लबादा मात्र था। साथ में अन्य कुछ भी – यहाँ तक कि कमण्डलु भी न था। एक स्थानीय बनिया भी अपने कई साथियों के साथ रेलगाड़ी के उसी डिब्बे में बैठ गया। उसे धर्म-कर्म या साधु-संन्यासियों के प्रति कोई रुचि या श्रद्धा न थी। उसकी मनोवृत्ति एक नास्तिक के समान थी। पूरी यात्रा के दौरान वह स्वामीजी को व्यंग्य तथा कटाक्ष की दृष्टि से देखता रहा। वह अपने साथ खाने-पीने की सारी सामग्री लेकर चल रहा था और रास्ते में भी यथावश्यक खरीद लेता था। पानी पीते समय वह उन्हें सुनाकर कहता, "अरे देखते हो, कैसा ठण्डा जल है ! तुमने तो संन्यासी होकर सब कुछ त्याग कर दिया है, पास में कानी कौड़ी तक नहीं है कि कुछ खरीदकर खा-पी सको। इसीलिये भूखे-प्यासे मर रहे हो ! यदि मेरी तरह व्यापार आदि करके कुछ कमाने की चेष्टा करते, तो ऐसी दुर्दशा न होती।" इस प्रकार वह रास्ते भर स्वामीजी पर कटु व्यंग्य-वाण चलाता रहा, परन्तु उन्हें एक

१. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा (बँगला), कालीजीवन देवशर्मा, खण्ड १, पृ. २१२

२. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, खण्ड १, पृ. ८१-८२

३. स्वामी विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष (बँगला), खण्ड २, पृ. १६२

४. श्रीरामकृष्ण ओ बंगीय रंगमंच (बँगला), नलिनीरंजन चट्टोपाध्याय, पृ. ८

बूँद जल तक के लिये नहीं पूछा।

जब वे गाजीपुर से गंगाजी के उस पार स्थित ताड़ीघाट स्टेशन पर उतरे, तब दोपहर के बाद अपराह्न का समय हो रहा था। स्टेशन के चौकीदार ने उन्हें प्लेटफॉर्म के ऊपर बने शेड की छाँव में नहीं बैठने दिया। विवश होकर वे विश्रामागार के बाहर ही जमीन पर अपना कम्बल बिछाकर एक खम्भे के सहारे एक अकिंचन के समान बैठ गए। आसपास और भी कुछ लोग थे। स्वामीजी ने सुबह से ही कुछ खाया नहीं था। उनके बिल्कुल सामने शेड के नीचे वह बनिया बड़े आराम से अपनी दरी पर बैठा था और थके-मादे स्वामीजी को तरह-तरह से चिढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था। प्लेटफॉर्म पर छाया में आराम से बैठा हुआ वह स्वामीजी पर फिर उपदेश झाड़ने लगा, "अरे देखो, पैसे में कितनी शक्ति है! तुम तो पैसा-कौड़ी रखते नहीं और उसका फल भी भोग रहे हो। परन्तु मैं रुपये-पैसे कमाता हूँ और मेरी मौज-मस्ती भी देख लो।" यह कहकर वह अपने साथ लाए खाद्य-पदार्थों को खोलकर खाने लगा तथा स्वामीजी को वे दिखा-दिखाकर कहने लगा, "ये सारी पूड़ियाँ, कचौड़ियाँ, पेड़े, मिठाइयाँ क्या बिना पैसे के मिल सकती हैं?"

स्वामीजी सब कुछ देख-सुन रहे थे और चुपचाप सारे अपमान सहे जा रहे थे। तभी अचानक वहाँ एक अन्य व्यक्ति आ पहुँचा। उसके दायें हाथ में एक गठरी तथा एक लोटा था और बायें हाथ में एक सुराही जल तथा एक दरी थी। प्लेटफार्म पर चारों ओर कई चक्कर लगाने के बाद वह स्वामीजी के पास आकर बोला, "बाबाजी, आप धूप में क्यों बैठे हैं? छाँव में चलें। मैं आपके लिए कुछ भोजन-पानी लेकर आया हूँ, कृपया ग्रहण करें।"

यह कैसी विचित्र दैवी लीला है! स्वामीजी सहसा विश्वास नहीं कर सके। व्यंग्य करनेवाला वह व्यापारी भी उस समय आश्चर्य से हक्का-बक्का होकर देख रहा था। आये हुए व्यक्ति द्वारा बारम्बार भोजन के लिए अनुरोध करने पर स्वामीजी ने कहा, "भाई, मुझे तो लगता है कि तुम भूल कर रहे हो। शायद किसी दूसरे को देने के लिए आकर गलती से मेरे पास चले आए हो।" यह कहकर वे पूर्ववत् बैठे रहे। इसके बाद भी उस व्यक्ति ने कहा, "नहीं, नहीं, आप ही तो वे बाबाजी हैं, जिसे मैंने देखा था।" स्वामीजी ने उत्सुकतावश पूछा, "इसका मतलब? तुमने मुझे कब देखा?"

तब उसने सारा वाकया स्पष्ट करते हुए कहा, "देखिये, मैं एक हलवाई हूँ। मेरी मिठाई आदि की दुकान है। दोपहर को भोजन के बाद मैं लेटकर विश्राम कर रहा था, उसी समय सपने में देखा कि श्रीरामजी आकर मुझसे कह रहे हैं, 'मेरा एक साधु स्टेशन पर भूखा-प्यासा पड़ा हुआ दु:ख भोग रहा है। सुबह से ही उसने कुछ खाया-पिया नहीं है। तू तुरन्त जाकर उसकी सेवा कर।' इसके बाद मेरी नींद खुल गयी, परन्तु मैंने इसे अपने मन का भ्रम समझा और करवट बदलकर फिर सो गया। परन्तु श्रीरामजी कृपा करके पुनः आए और मुझे वस्तुतः धक्का मारकर उठा दिया। फिर उन्होंने जैसा पहले कहा था, वही करने का आदेश दिया। तब मैं बिस्तर छोड़कर उठा और तुरन्त कुछ पूड़ियाँ तथा सब्जी बनायी। उसके साथ सुबह की बनी हुई कुछ मिठाइयाँ, पानी और तम्बाकू लेकर मैं यथाशीघ्र स्टेशन आ गया।"

स्वामीजी ने फिर भी जानना चाहा, "तुमने यह कैसे जाना कि वह साधु मैं ही हूँ?" हलवाई बोला, "पहले मुझे भी यह सन्देह हुआ था, इसीलिये यहाँ आते ही एक बार चारों ओर घूमकर देख लिया, किन्तु अन्य किसी साधु को न देखकर समझ गया कि वह साधु आपके सिवा कोई अन्य नहीं हो सकता।" इसके बाद उसने स्वामीजी को छाया में बैठाकर खाना खिलाया। भोजन के बाद हाथ पर पानी ढालकर धुला दिया और धूम्रपान के लिये चिलम भर कर दिया। स्वामीजी द्वारा धन्यवाद दिए जाने पर उसने कहा, "नहीं, नहीं, स्वामीजी, मुझे धन्यवाद मत दीजिए; यह सब रामजी की लीला है।"

व्यापारी अब तक ठगा-सा सारी घटनाएँ देख रहा था और कान लगाये सब सुन रहा था। अब उसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा कि स्वामीजी एक उच्च अवस्था-सम्पन्न महात्मा हैं। उसे भय हुआ कि इनका अपमान करने के कारण उसका भयंकर अनिष्ट हो सकता है। उसने पश्चात्ताप करते हुए स्वामीजी को प्रणाम करने के बाद अपने किए अपराध के लिए उनसे क्षमा-याचना की।[५]

गाजीपुर पहुँचकर स्वामीजी गोराबाजार में स्थित अपने बाल्यबन्धु श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय मुखर्जी के आवास पर ठहरे। इस घर में शहर के अनेक लोग उनसे मिलने आया करते थे। वहाँ हर रविवार को रायबहादुर गगनचन्द्र राय के मकान में एक छोटी-सी धर्मसभा होती थी, जिसमें नगर के अनेक शिक्षित लोग उपस्थित हुआ करते थे। उनमें से अधिकांश स्वामीजी का सत्संग प्राप्त करने और उनके मधुर भजन सुनने की इच्छा से आते थे। स्वामीजी राधाकृष्ण-लीला-विषयक भजन गाते, इसीलिए गाजीपुर के लोग उन्हें 'बाबाजी' कहकर सम्बोधित करते थे। एक दिन उसी सभा में समाज-सुधार के विषय में बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा कि समाज पर अग्निमय अभिशापों की वर्षा कर और उसके प्रत्येक आचार-व्यवहार की कड़ी निन्दा के द्वारा उसमें किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं है। इस कार्य के लिए तो

५. युगनायक विवेकानन्द, प्र.सं., भाग १, पृ. २३१-३४; माँ की बातें (प्र.सं., भाग १, पृ. २९८) में इससे मिलती-जुलती एक घटना वर्णित है।

असीम प्रेम तथा अनन्त धैर्य की आवश्यकता है। इन्हीं साधनों का आश्रय लेकर आम जनता में शिक्षा का विस्तार करते हुए हमें धीरे-धीरे भीतर की ओर से राष्ट्र को उन्नत बनाना होगा; हिन्दू धर्म के महान् सार्वभौमिक आदर्शों के आधार पर शिक्षा का प्रसार करना होगा और साथ ही सदा इस बात को स्मरण रखना होगा कि हिन्दू धर्म कोई भ्रम-प्रमाद की समष्टि नहीं है। सनातन धर्म को पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता की दृष्टि से विचार न करके गम्भीर अध्यवसाय के साथ उसके महत्त्व को समझने की चेष्टा करनी होगी और इस बात की खोज करनी होगी कि इस सनातन हिन्दू जाति का उद्देश्य क्या है और इसकी प्रकृत जीवनीशक्ति कहाँ है। यह बड़े खेद की बात है कि हममें से अनेक व्यक्ति पाश्चात्य शिक्षा के मोह से अन्धे होकर मन-ही-मन कल्पना करते रहते हैं कि भारतवर्ष अपने राष्ट्रीय जीवन के आदर्श से बहुत दूर हट गया है तथा उसका अपना कोई सार्वभौमिक आदर्श भी नहीं रहा है, जिसके द्वारा विभिन्न सम्प्रदायों में एक समन्वय का सूत्र निकाला जा सके। वर्तमान समाज-सुधारकों में यही प्रमुख कमी है – वे आध्यात्मिक नींव पर प्रतिष्ठित हिन्दू सभ्यता के सच्चे स्वरूप को देखने की दृष्टिशक्ति खो बैठे हैं। जब हम इस बात को भलीभाँति समझकर समाज की विदेशी भावयुक्त संस्कारों के चंगुल से छुड़ाने की चेष्टा में लग जायेंगे, तभी हमारी वर्तमान राष्ट्रीय समस्या का समाधान होगा।

वहाँ से पहला पत्र

गाजीपुर में स्वामीजी के करीब ढाई महीने प्रवास के दौरान उनके लिखे हुए कुल २६ पत्र भी मिलते हैं, जिनमें से केवल २१ का हिन्दी अनुवाद 'विवेकानन्द-साहित्य' (प्रथम खण्ड) में मुद्रित हैं, बाकी ५ के हिन्दी अनुवाद यहाँ पहली बार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इनमें से १२ पत्र वाराणसी के प्रमदादास मित्र को, ७ कलकत्ते के बलराम बोस, ३ हिमालय यात्रा पर गये स्वामी अखण्डानन्द को और १-१ पत्र कलकत्ते के स्वामी अभेदानन्द, सदानन्द, तुलसीराम बोस तथा अतुलचन्द्र घोष को लिखे गये हैं। सतीशचन्द्र मुखर्जी के आवास से ही शुक्रवार, **२१ जनवरी, १८९०** को उन्होंने वाराणसी के प्रमदादास मित्र को अपने पहले पत्र में लिखा –

''तीन दिन हुए मैं सकुशल गाजीपुर पहुँच गया। यहाँ मैं अपने एक बालसखा बाबू सतीशचन्द्र मुखर्जी के यहाँ ठहरा हूँ। गंगाजी पास ही बहती हैं, परन्तु उसमें स्नान करना कष्टसाध्य है, क्योंकि कोई सीधा रास्ता वहाँ तक नहीं है और रेत में चलना बड़ा कठिन है। जिन महानुभाव का मैंने आपसे उल्लेख किया था, वे मेरे मित्र के पिता बाबू ईशानचन्द्र मुखर्जी यहाँ उपस्थित हैं। आज वे वाराणसी होते हुए कलकत्ता जा रहे हैं। मेरे बड़ी इच्छा थी कि मैं वाराणसी आता; परन्तु अभी तक बाबाजी के दर्शन नहीं हुए। यही मेरे यहाँ आने का उद्देश्य है। इसलिए कुछ दिनों का विलम्ब होना अनिवार्य है। यहाँ और सब तो ठीक है, सभी लोग सज्जन हैं, परन्तु उनमें बहुत अधिक पाश्चात्य भाव आ गया है। खेद की बात है कि मैं पाश्चात्य भावों के हर अन्धानुकरण का घोर विरोधी हूँ। केवल मेरे इन मित्र का झुकाव ही उस ओर कम है। विदेशी लोग कैसी रद्दी सभ्यता यहाँ लाये हैं! उन्होंने जड़वाद की कैसी मृग-मरीचिका उत्पन्न की है! विश्वनाथ इन दुर्बल हृदयवालों की रक्षा करें। बाबाजी से मिलने के बाद मैं सारा हाल आपको सविस्तार लिखूँगा। पुनश्च – शोक है कि भाग्य के फेर से भगवान शुक की इस जन्मभूमि में त्याग को पागलपन और पाप समझा जाता है।''[६]

स्वामीजी का वहाँ आने का मुख्य तथा एकमात्र उद्देश्य था पवहारी बाबा से मिलना। उन्नीसवीं शताब्दी के इन महान् सन्त का संक्षिप्त जीवन-चरित इस प्रकार है –

पवहारी बाबा – एक जीवन-झाँकी

पवहारी बाबा का जन्म १८४० ई. में उत्तरप्रदेश में जौनपुर के निकट प्रेमपुर नामक ग्राम में हुआ था। वे श्री अयोध्या तिवारी के द्वितीय पुत्र थे। नाम था – हरभजनदास। उनके दो चचेरे भाई भी थे। बचपन में ही चेचक के प्रकोप से उनकी एक आँख चली गयी, तो भी सभी भाइयों में वे ही सबसे सुन्दर तथा गठीले थे। उनके चाचा लक्ष्मीनारायण कम आयु में ही वैरागी हो गये थे। वे श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैत मत के श्री सम्प्रदाय की बड़कली शाखा के अनुयायी थे और गाजीपुर से तीन मील दूर कुर्था ग्राम में रहकर तपस्या करते थे। वह स्थान उन्हें इसलिये पसन्द आया था कि वहाँ गंगाजी उत्तरवाहिनी हैं। हरभजन अपनी शिक्षा के लिये कुर्था में ही अपने चाचा के पास चले आये। लक्ष्मीनारायण ने भतीजे का उपनयन कराया और पास रहनेवाले एक पण्डित से उनकी संस्कृत पढ़ने की व्यवस्था कर दी। बाद में उन्होंने विभिन्न शिक्षकों से वेदों तथा विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया। पं. गोपाल पर्वत परमहंस से एक वर्ष उन्होंने पंचदशी पढ़ा।

बालक हरभजन आश्रम के कार्य करते और श्रीरघुनाथजी तथा अन्य विग्रहों के लिये भोग आदि प्रस्तुत करने में अपने चाचा के अन्य शिष्यों की सहायता करते। उनके चाचा एक उच्च कोटि के साधक थे और उनके सान्निध्य से हरभजन के मन में भी आध्यात्मिक पिपासा जाग उठी थी। यथासमय पिताजी ने आकर उनके विवाह की बात चलायी, परन्तु उन्होंने साफ इनकार कर दिया। १८५६ ई. में उनके चाचा लक्ष्मीनारायण ने इहलोक त्याग दिया। अब श्रीरघुनाथजी तथा अन्य विग्रहों की सेवा का भार उन्हीं पर आ पड़ा। कुछ माह बाद सेवा का भार अपने अन्य गुरुभाइयों को सौंपकर वे

६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३५१-२

तीर्थयात्रा को निकल पड़े। उन्होंने पुरी, रामेश्वरम, द्वारका और बद्रीनाथ – इन चारों धामों की यात्रा की। कुछ काल के लिये वे काठियावाड़ के गिरनार पर्वत पर रुके। वहाँ एक गुफा में उन्हें एक योगी के दर्शन हुए, जिन्होंने उन्हें योग की कई गुप्त बातें बतायीं। हरभजन द्वारा वहीं रहकर उनकी सेवा की इच्छा व्यक्त करने पर उन्होंने आज्ञा नहीं दी। कहते हैं कि हिमालय में भी उन्होंने एक महात्मा की सेवा की थी, जिन्होंने हरभजन को कुछ ऐसी जड़ियाँ दी थीं, जिन्हें खा लेने पर भूख-प्यास नहीं लगती थी। कुछ वर्षों की यात्रा, अध्ययन तथा साधना के बाद वे लौट आये। अब उनका चेहरा एक अलौकिक तेज से उद्दीप्त हो रहा था।

अब वे पुन: ठाकुर-पूजा, अतिथि-सेवा तथा आश्रम के अन्य कार्यों में लग गये। अब से वे हर प्राणी को 'बाबा', हर स्त्री को 'माता' और स्वयं को 'दास' कहते। कुछ काल के लिये उन्होंने वाराणसी जाकर अद्वैत-सिद्धान्त का अध्ययन किया। वहाँ से लौटकर उन्होंने आश्रम में एक लम्बी सुरंग खुदवायी और लगातार कई दिन उसी में बिता देते। जब सब सो जाते, तब वे चुपके से गंगाजी में कूदकर तैरते हुए दूसरे तट पर जंगल में चले जाते और रात भर साधना में बिताकर भोर होने के पूर्व लौट आते। क्रमश: उनका स्वयं का आहार दिन-दिन घटने लगा। कहते हैं कि बाद में वे दिन भर में केवल एक मुट्ठी नीम के कड़वे पत्ते या कुछ लाल मिर्च ही खाकर रह जाते। फिर उन्होंने रात को गंगापार के जंगल में जाना छोड़ दिया और अपना अधिकांश समय गुफा में ही बिताने लगे। ग्रामवासियों के अनुरोध पर केवल एकादशी के दिन ही बाहर निकलते। उनके बड़े भाई गंगा तिवारी उनकी सेवा हेतु कुर्था में ही आकर रहने लगे। गाँव के लोग दूध-फल आदि लाकर बगल के कमरे में रख देते। क्रमश: उनका हर एकादशी को भी बाहर निकलना बन्द हो गया। गुफा में वे महीनों तक ध्यानमग्न रहा करते और यदा-कदा बाहर निकलते। कोई समझ नहीं सका कि इतने दिन वे क्या खाकर रहते हैं; अत: लोग उन्हें पव अर्थात् वायु का आहार करनेवाले 'पवहारी बाबा' कहने लगे। बाबा हरभजनदास अब 'पवहारी बाबा' के नाम से प्रसिद्ध होने लगे। लोग दूर-दूर से उनका आशीर्वाद पाने को आने लगे। वे सामने नहीं आते, गुफाद्वार के पीछे से ही बातें करते तथा प्रश्नों के उत्तर देते। उनके बड़े भाई आने वाले सभी साधु-संन्यासियों तथा आगन्तुकों की देखभाल तथा सेवा की व्यवस्था करते। वे आश्रम से लगी हुई जमीन पर खेती भी करते थे, जिससे अतिथियों के सत्कार में कोई अभाव नहीं होता था।

इसके बाद पवहारी बाबा साल में एक बार ही बाहर आते और उस दिन उत्सव-जैसा मनाया जाता। हर साल होमाग्नि के धुएँ को देखकर ही लोगों को उनके गुफा से निकलने का ज्ञान हो जाता था। १८८४ ई. में वे नियत तिथि पर गुफा से बाहर नहीं आये। लोगों ने अनुमान किया कि उन्होंने देहत्याग कर दिया है, परन्तु ४-५ वर्ष बाद एक दिन जब ठाकुरजी की पूजा के घण्टे आदि बज रहे थे, तभी वे बाहर आये। लोगों के हर्ष का ठिकाना न रहा। आनन्दोत्सव मनाने के लिये एक विशाल भोज आयोजित किया गया, जिसमें बड़ी संख्या में साधुओं, ब्राह्मणों तथा दरिद्र-नारायणों को भोजन कराया गया।

उनके जीवन की कुछ घटनाएँ अत्यन्त प्रेरणादायी हैं। एक बार उन्हें एक काले विषधर नाग ने डँस लिया, जिससे वे प्राय: मरणासन्न हो गये। कई घण्टों बाद चेतना लौटने पर लोगों ने पूछा कि क्या हुआ था? उन्होंने बताया, "वह विषधर मेरे प्रभु प्रियतम का दूत था।" बोले, "एक मूषक-बाबा 'दास' की गोती में आकर गिर पड़े। इस पर उनका पीछा करनेवाले विषधर-बाबा कुपित हो गये और उन्होंने आकर 'दास' के कन्धे में काट लिया।" एक अन्य दिन जब एक कुत्ता उनकी रोटी लेकर भागा, तो वे यह कहते हुए उसके पीछे दौड़े, "ठहरो प्रभु, रोटी में घी तो चुपड़ लेने दो।" एक बार उनके आश्रम में चोर घुसा। वह सब कुछ समेटकर चम्पत ही होनेवाला था कि बाबा कमरे में आ पहुँचे। वह गठरी पटककर भागने लगा। बाबा ने मीलों दौड़कर उसे रोक लिया और डबडबाए नेत्रों के साथ उससे क्षमा-याचना की कि उसके कार्य में बाधक हुए। फिर गठरी को उसके चरणों में रखकर विनयपूर्वक बोले, "यह सब आपका ही है, मेरा नहीं। आप इसे ले जाइये।" इस घटना से चोर का हृदय-परिवर्तन हो गया था।

उनकी एक विशेषता यह भी थी कि वे जब जिस काम को हाथ में लेते, वह चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, उसमें पूर्णतया तल्लीन हो जाते। जिस एकाग्रता और लगन के साथ वे रघुनाथजी की पूजा करते, उतनी ही तन्मयता से ताँबे का एक साधारण बरतन भी माँजते। उन्होंने स्वामीजी को कर्म-रहस्य की यह शिक्षा दी थी – 'जस साधन तस सिद्धि', अर्थात् 'ध्येय-प्राप्ति के साधनों से वैसा ही प्रेम रखना चाहिए मानों वे स्वयं ही ध्येय हों।' और वे स्वयं भी इस महान् सत्य के उत्कृष्ट उदाहरण थे।[७]

❖ **(क्रमश:)** ❖

७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. ३५१-२

स्वामी प्रकाशानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

स्वामीजी ने एक बार अपने किसी संन्यासी-शिष्य को गले से लगाकर आवेगपूर्ण कण्ठ से कहा था, "वत्स, मैं प्रभु के कार्य के लिये अपना प्राण दे रहा हूँ। तुम भी अपना जीवन इसी कार्य में उत्सर्ग करो। और भी कितने ही लोगों के जीवन ठाकुर की सेवा में समर्पित होंगे। सबके सम्मिलित आत्मोत्सर्ग से ही एक महान् सदुद्देश्य की सिद्धि होगी।" जिनके प्रति यह उक्ति कही गयी थी, उनका जीवन युगाचार्य के अमोघ स्पर्श से भगवत्-कार्य में समर्पण का एक महान् दृष्टान्त-स्वरूप हो, तो इसमें विस्मय की भला क्या बात! स्वामी प्रकाशानन्द के जीवन में उनके आचार्य की उपरोक्त वाणी अक्षरश: सार्थक हुई थी। वस्तुत: लगता है कि उनके गुरुदेव के आह्वान ने उनके सम्पूर्ण जीवन को ही निनादित कर रखा था – उन्होंने प्रभु के कार्य में स्वयं को सर्वतोभावेन विसर्जित कर दिया था।

स्वामी प्रकाशानन्द का पूर्वनाम सुशीलचन्द्र था। उनके पिता आशुतोष चक्रवर्ती एक धर्मनिष्ठ सम्भ्रान्त ब्राह्मण थे। कलकत्ते के सर्पेंटाइन लेन में उनका पैतृक मकान था। उसी में १८७४ ई. की ८ जुलाई को सुशील का जन्म हुआ। उल्लेखनीय है कि इस चक्रवर्ती वंश के दो सुयोग्य रत्न श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के दो विशिष्ट ध्वज-वाहकों के रूप में विश्वविख्यात हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह वंश की शिक्षा-दीक्षा तथा धर्म-संस्कार का ही एक उत्कृष्ट प्रमाण है। प्रियदर्शन मधुरभाषी सुशील अपने घर के इस स्वाभाविक परिवेश के बीच बड़े हुए थे। बालक के जीवन में धर्म का बीज उनकी माता ने ही बोया था – माँ की गोद में ही उनकी धर्मशिक्षा का श्रीगणेश हुआ था। माँ अथवा घर की अन्य मातृस्थानीय महिलाओं के मुख से पौराणिक गाथाएँ सुनते हुए सुशील मंत्रमुग्ध हो जाया करते। बड़े भाई सुधीर का भी छोटे भाई पर काफी प्रभाव पड़ा था। इसीलिये आयु में वृद्धि के साथ-साथ दोनों भाई उत्तरोत्तर अपने जीवन-लक्ष्य की दिशा में अग्रसर हो रहे थे। इसे भी संसार की एक असाधारण घटना कही जा सकती है।

छात्र-जीवन में भी सुशील को कुछ ऐसे मित्र मिल गये थे, जो सचमुच ही उनके धर्मबन्धु थे। चरित्रवान धर्मनिष्ठ सहपाठियों के साथ उनकी विशेष घनिष्ठता थी। अनुज सुशील हर प्रकार से अपने बड़े भाई सुधीर के अनुगामी थे, इसीलिये बड़े भाई के मित्रगण ही क्रमश: उनके भी मित्र बन गये। कालीकृष्ण, विमल, हरिपद, गोविन्द शुकुल – जो बाद में क्रमश: विरजानन्द, विमलानन्द, बोधानन्द तथा आत्मानन्द के नाम से स्वामी विवेकानन्द के विशिष्ट शिष्यों के रूप में रामकृष्ण-संघ में परिचित हुए, वे सभी सुधीर के अन्तरंग मित्र होने के कारण सुशील के भी परमप्रिय संगी थे। ये सभी एक ही कक्षा में अध्ययन करते थे, परन्तु सुशील आयु में कुछ छोटे होने के कारण दो कक्षा नीचे पढ़ते थे। इन युवकों में से कई जब रिपन कॉलेज में पढ़ते थे, तभी से उन लोगों की साधन-भजन, साधुसंग, धर्मचर्चा आदि के प्रति निष्ठा में वृद्धि हो रही थी। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक 'श्रीम' उन दिनों रिपन कॉलेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक थे। सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मास्टर महाशय के अति उज्ज्वल जीवनालोक में, इस टोली के अन्य तरुणों के समान ही सुशील का भी पथ-अन्वेषण काफी आसान हो गया था। मास्टर महाशय ने ही इन अध्यात्म-पिपासुओं को वराहनगर मठ का पथ दिखाया था। सुशील तथा उनके संगियों को 'श्रीम' से ही भगवान श्रीरामकृष्ण के त्यागी शिष्यों का संग पाने का संकेत तथा प्रेरणा मिली थी। ये लोग अपने कॉलेज-जीवन से ही भक्तप्रवर श्री रामचन्द्र दत्त के साथ भी परिचित थे और काँकुड़गाछी में प्राप्त उनके संग ने भी नि:सन्देह इस टोली की काफी सहायता की थी। इस आदर्शवादी युवादल के नेता खगेन्द्रनाथ थे, जिनका घर पटलडांगा में था। खगेन का घर ही सुशील आदि युवकों का प्रधान अड्डा अर्थात् मिलन-स्थान था।

१८९० ई. का समय था। वराहनगर मठ के निवासी श्रीरामकृष्ण के त्यागी शिष्यों की तपस्या तथा भगवत्प्राप्ति हेतु व्याकुलता ने सुशील को विमुग्ध कर लिया था। स्कूल से अवकाश मिलते ही या छुट्टी के दिन बड़े भाई सुधीर या अन्य किसी संगी के साथ वे कलकत्ते से पैदल ही वराहनगर मठ चले जाते। स्वामी रामकृष्णानन्द जी इन तरुणों का खूब स्नेह-यत्न करते। सर्वाधिक अल्प-वयस्क शान्त-सुशील मधुरभाषी बालक मठ में सभी का विशेष स्नेहभाजन हो उठा था। स्वामी योगानन्द जी के साथ मठ के दालान के एक किनारे बैठकर उन लोगों की बहुत-सी चर्चाएँ हुआ करती थीं। योगेन महाराज इन युवकों से बड़ा स्नेह करते और

उन्हें त्याग-वैराग्य के पथ पर प्रोत्साहित करते रहते। तरुण सुशील धीर मुग्धचित्त तथा विस्फारित नेत्रों के साथ योगेन महाराज के मुख की ओर देखते रहते और उनकी सारी बातों को सुनते ही एक विद्वान् के समान पूरी तौर से धारणा करने का प्रयास करते। उच्च तत्त्व की किसी-किसी बात को तत्काल समझ पाने में अक्षम होकर, बालकोचित चपलता के साथ वे योगेन महाराज की बातों के बीच में ही कुछ बोल उठते। इस पर योगेन महाराज कहते, "तू तो बड़ा बुद्धू लड़का है।" डाँट सुनने के बाद सुशील थोड़े संकुचित होकर फिर से स्थिर होकर बैठ जाते। दल के अन्य युवक इस पर खूब आनन्दपूर्वक हँसने लगते।

कॉलेज में पढ़ते समय ही सुशील के मन में प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र के अध्ययन से विशेष लगाव हो गया। वे नियमित रूप से अपने समान भाववाले मित्रों के साथ मिलकर दर्शन के विविध तत्त्वों पर चर्चा किया करते। फिर संध्या के समय किसी निर्जन स्थान में अथवा मित्र खगेन के घर या कालीकृष्ण के गृहोद्यान में साधना तथा धर्मचर्चा आदि करना भी उनका एक दैनन्दिन अभ्यास था। इस प्रकार सुशील के मन की अन्तर्मुखता दिनो-दिन बढ़ती जा रही थी। इसी बीच १८९१-९२ ई. में सुशील – खगेन आदि कुछ मित्रों के साथ जयरामवाटी जाकर जगदम्बा श्री सारदादेवी का दर्शन पाकर कृतार्थ हुए थे। माँ की अलौकिक स्नेह-करुणा से सुशील के मन-प्राण परिपूर्ण हो उठे थे – सम्भवत: इसी समय या बाद में कभी उन्हें श्रीमाँ से मंत्रदीक्षा भी प्राप्त हुई थी।[१] दीक्षा पाने के बाद से सुशील के जीवन में अध्यात्म-साधना का वेग और भी प्रबल हो उठा था। वैसे उन्होंने, इस दीक्षा-प्राप्ति की बात काफी काल तक अपने संगियों के समक्ष प्रकट नहीं की थी।

इस बीच टोली के एक प्रमुख संगी कालीकृष्ण घर छोड़कर वराहनगर मठ में सम्मिलित हो चुके थे। पर सहसा उनकी तबीयत काफी बिगड़ जाने से श्रीमाँ के आदेशानुसार स्वास्थ्य-सुधार हेतु उन्हें कुछ दिनों के लिये पुन: घर लौटना पड़ा था। वह १८९३ ई. का वर्षा काल था। कालीकृष्ण को पाकर सुशील के आनन्द का ठिकाना न रहा। इतने दिन मठ के महापुरुषों के पूत सान्निध्य में निवास करने के बाद कालीकृष्ण ने अध्यात्म-पथ के लिये काफी पाथेय जुटा लिया था। घर में रहकर भी उनका सारा समय बन्द कमरे में साधन-भजन, ध्यान-धारणा आदि करते हुए ही बीतता था। अब से सुशील तथा उनके अन्य मित्रगण प्रतिदिन शाम को कालीकृष्ण के पास जाते और उनके मुख से मठ के साधुओं तथा श्रीरामकृष्ण-विषयक विविध प्रसंग सुनकर तन्मय हो जाते। ठाकुर के परम भक्त, स्वामीजी के निष्ठावान अनुरागी तथा मठवासियों के आन्तरिक हितैषी श्री गोपालचन्द्र घोष भी सुशील के साथ कालीकृष्ण के घर में ही शाम की उस चर्चा-चक्र में भाग लेते। स्वामीजी इन्हें स्नेहपूर्वक 'हुटको गोपाल' कहा करते थे। वे लोग हुटको गोपाल के मुख से भी श्रीरामकृष्ण की दक्षिणेश्वर तथा काशीपुर की अनेक लीला-कथाएँ सुना करते और भावविभोर हो जाते। इस प्रकार जितने ही दिन बीतने लगे, उतना ही सुशील का मन अनन्त की ओर दौड़ने लगा – वे सर्वदा ही अपने हृदय में एक तरह के अज्ञात आकर्षण का अनुभव करते। संसार का बन्धन उनके लिये क्रमश: शिथिल से शिथिलतर होता गया।

इन दिनों कलकत्ते का वायुमण्डल स्वामीजी की चर्चा से गुंजरित हो रहा था। विदेशों में उनके वेदान्त-प्रचार के विषय में तरह-तरह की अलौकिक कथाएँ, उनके व्याख्यान तथा उनकी उक्तियाँ – उन दिनों समाचार-पत्रों के प्रमुख विषय बने हुए थे। सुशील वह सब पढ़कर तथा उस पर चर्चा करके जीवन में एक दिव्य प्रेरणा का अनुभव करने लगे। मित्रों के साथ दिन-रात वह एक ही प्रसंग – एक ही विचार चलता। क्रमश: स्वामीजी ही सुशील के ध्यान-ज्ञान के विषय हो गये। सुशील की मानसिक विचार-प्रणाली ने एक ऐसी नवीन दिशा चुन ली थी कि अब उनके लिये घर में रह पाना सम्भव नहीं हो पा रहा था। तथापि उस समय उनकी बी. ए. परीक्षा की तैयारी चल रही थी। श्रीमाँ को अपनी यह मानसिक अवस्था सूचित करने पर उन्होंने सुशील को वैराग्य-पथ अपनाने का ही आशीर्वाद प्रदान किया। विवेकानन्द-विद्युत् से आविष्ट सुशील, अब माँ का आशीष पाकर सहसा एक दिन संसार को अलविदा कहकर उदार उन्मुक्त आकाश-तल में आकर खड़े होने को बाध्य हुए। वह १८९६ ई. का, सम्भवत: झूलन-पूर्णिमा का दिन था। सुशील आलमबाजार मठ में आकर सम्मिलित हो गये। इसके बाद उन्होंने वृन्दावन जाकर वहाँ तपस्यारत स्वामी प्रेमानन्द के सान्निध्य में कुछ काल बिताया और तदुपरान्त वे तीर्थ-पर्यटन आदि करते रहे।

पश्चिमी देशों में वेदान्त-प्रचार करने के बाद १८९७ ई. के फरवरी में स्वामीजी मठ में लौट आये थे। स्वामीजी सुशील के जीवनाराध्य थे – वे इतने दिनों तक उन्हीं के ध्यान तथा प्रतीक्षा में कालयापन कर रहे थे। मठ में आने के बाद स्वामीजी का दिव्य सान्निध्य पाकर सुशील के हृदय में बहु-आकांक्षित आध्यात्मिक आनन्द की मानो बाढ़ आ गयी। थोड़े दिनों के भीतर ही वे स्वामीजी के विशेष स्नेहपात्र बन गये। सुशील का सुशील स्वभाव आचार्य की कृपादृष्टि आकृष्ट करने में सफल हुई। मठ लौटने के कुछ दिनों बाद

१. सैन्फ्रांसिस्को में १६ फरवरी १९२७ को आयोजित स्वामी प्रकाशानन्द स्मृतिसभा में उनके गुरुभाई स्वामी बोधानन्द ने कहा था, "हम लोगों ने अपनी पहली दीक्षा श्री माताजी से और अन्तिम – संन्यास-दीक्षा स्वामी विवेकानन्द से प्राप्त की थी।" (प्रबुद्ध भारत, जून १९२७)

ही स्वामीजी ने जिन चार लोगों को संन्यास-दीक्षा देने का संकल्प लिया था, उनमें से सुशील भी एक थे। स्वामी विरजानन्द, स्वामी निर्भयानन्द और स्वामी नित्यानन्द के साथ ब्रह्मविद् आचार्य के द्वारा त्यागीकुल द्वारा परम वांछित संन्यास प्राप्त करके सुशील का भी स्वामी प्रकाशानन्द नाम के साथ मानो नया जन्म हुआ। "संन्यास पाये बिना कोई ब्रह्मज्ञ नहीं हो सकता। त्याग के बिना भक्ति-मुक्ति नहीं मिल सकती। त्याग, त्याग, त्याग – नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय" – उस दिन स्वामीजी के मुख से उच्चरित इस वाणी ने त्यागी प्रकाशानन्द को कितना उद्दीप्त कर दिया था, उनके मुख, नेत्र, देह तथा प्राणों में जो अभूतपूर्व रोमांच जगा दिया था, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है? परन्तु इतना तो सत्य ही है कि गैरिक-शोभित-काय स्वामी प्रकाशानन्द ने उसी दिन 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – मंत्र के साधन में सर्वतोभावेन अपने जीवन की आहुति दे दी थी।

स्वामीजी के अग्निमय व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर, उनके चरणों में घनिष्ठतापूर्वक निवास करने का सुयोग पाकर प्रकाशानन्द का आध्यात्मिक जीवन तीव्र गति से विकसित होने लगा। युगाचार्य स्वामीजी के भाव क्रमश: प्रकाशानन्द में मूर्त रूप धारण करने लगे। शीघ्र ही वे स्वामीजी के एक अन्तरंग शिष्य के रूप में सबके प्रिय हो गये। १८९८ ई. में दुर्गापूजा के समय अष्टमी के दिन जब स्वामीजी ने बागबाजार जाकर श्रीमाँ सारदादेवी की चरण-वन्दना की थी, उस दिन उन्होंने भी माँ के चरणों में स्वामीजी का अनुसरण किया था। स्वामी ब्रह्मानन्द जी तथा विमलानन्द भी वहाँ स्वामीजी के संगी थे। उस दिन की स्मृति प्रकाशानन्द के मानस-पटल पर चिरकाल तक अमिट बनी रही। स्वामीजी ने जब धरती पर लोटकर माँ को साष्टांग प्रणाम किया, तो माँ ने अपना दाहिना हाथ स्वामीजी के सिर पर रखकर उन्हें आशीर्वाद दिया था। स्वामीजी ने माँ के समक्ष एक शिशु के समान अभिमानपूर्वक कहा था, "ऐसे तो तुम्हारे ठाकुर हैं! काश्मीर में एक फकीर का चेला मेरे पास आता-जाता था, इस कारण उसने मुझे शाप दिया कि 'तीन दिनों के भीतर उसे उदररोग के कारण यह स्थान छोड़कर जाना पड़ेगा।' और हुआ भी वैसा ही – मुझे भागने के सिवा और कोई मार्ग नहीं सूझा! तुम्हारे ठाकुर कुछ भी नहीं कर सके।" माँ ने अपने दुलारे पुत्र का अभिमान तोड़ने के लिये कई तरह से समझाया, बोलीं – ठाकुर कुछ तोड़ने थोड़े ही आये थे, सभी विद्याओं को मानना पड़ता है, आदि आदि। परन्तु स्वामीजी किसी भी हालत में मानने को तैयार नहीं थे। आखिरकार माँ ने हँसते हुए कहा, "बेटा, ठाकुर को न मानने का कोई उपाय है क्या? तुम्हारी चोटी तो उन्हीं के हाथ से बँधी हुई है!" तुषारमौलि उन्नतसिर पर्वत सहसा पिघल कर अश्रु-प्लावन में परिणत हो गया। स्वामीजी ने सजल नेत्रों के साथ बारम्बार माँ के चरणों में प्रणाम निवेदित किया। वह एक स्वर्गीय और साथ ही ऐतिहासिक दृश्य भी था।

एक अन्य इतिहास-प्रसिद्ध पृष्ठभूमि में हम प्रकाशानन्द को स्वामीजी के बगल में देख पाते हैं। यह भी १८९८ ई. की ही घटना है। उस दिन हावड़ा के रामकृष्णपुर में स्थित श्री नवगोपाल घोष के घर में स्वामीजी ने स्वयं ही श्रीरामकृष्ण की मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा सम्पन्न की थी और वहीं पर सहसा उनके मुख से श्रीरामकृष्ण का जगद्विख्यात प्रणाम-मंत्र – 'स्थापकाय च धर्मस्य' उच्चरित हुआ था। इस पवित्र अनुष्ठान-कार्य में प्रकाशानन्द ही स्वामीजी के व्यक्तिगत सहायक थे – उन्होंने स्वामीजी के पास के आसन पर बैठकर पूजा आदि कृत्यों के मंत्रों का उच्चारण किया था।

श्रीगुरु के साहचर्य ने ज्ञात या अज्ञात भाव से प्रकाशानन्द को अनेक प्रकार से प्रभावित किया था, यहाँ तक कि उनके व्याख्यान में भी स्वामीजी की ही शैली का अनुकरण दीख पड़ता। उन दिनों स्वामीजी के आदेश पर मठ के तरुण साधु-ब्रह्मचारियों को नियमित रूप से व्याख्यान आदि का अभ्यास करना पड़ता था। इन व्याख्यान-सभाओं में वे स्वयं भी उपस्थित रहा करते। एक बार मठ के हॉल में आयोजित ऐसी ही एक सभा में प्रकाशानन्द ने 'आत्मतत्त्व' विषय पर दस मिनट का एक अति मनोहारी व्याख्यान दिया था। उस दिन उनके भाषण में स्वामीजी के व्याख्यान की शैली इतने अद्भुत रूप से प्रस्फुटित हो उठी थी कि सभी लोग विस्मित हो उठे थे। स्वामीजी ने स्वयं भी अपने शिष्य की व्याख्यान-पद्धति तथा भाव-भाषा की खूब प्रशंसा की थी।

स्वामीजी के आदेश पर १८९७ ई. में रामकृष्ण मिशन द्वारा सेवा-कार्य का श्रीगणेश होने पर प्रकाशानन्द कुछ काल (१२ अक्तूबर १८९७ से ९ जनवरी १८९८ तक) दक्षिणेश्वर ग्राम के अकाल-पीड़ितों की सेवा में लगे रहे। १८९९ ई. के प्रारम्भ में ही स्वामीजी ने प्रकाशानन्द को प्रचारक के रूप में ढाका भेजने का निश्चय किया; इसी कार्य के लिये उन्होंने विरजानन्द को भी मनोनीत किया था। तब तक बेलूड़ में स्थायी मठ की स्थापना हो चुकी थी। एक दिन स्वामीजी ने दोनों शिष्यों को मठ के मन्दिर में अपने पास बैठाया और काफी देर तक ध्यान करने के बाद उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए बोले – "विश्वास करो, उनकी शक्ति तुम लोगों के भीतर संचरित हो चुकी है।" इस प्रकार श्रीगुरु से अमोघ शक्ति पाने के बाद १८९९ ई. की ४ फरवरी को प्रकाशानन्द अपने गुरुभाई विरजानन्द के साथ ढाका के लिये रवाना हुए। स्वामीजी के इन शक्तिमान शिष्यों के दौरे से पूर्वी बंगाल में श्रीरामकृष्ण-भावधारा अद्भुत गति से प्रचारित तथा स्थापित हुई थी। विशेषकर ढाका नगर में

मिशन की स्थायी शाखा की स्थापना के मूल में जो बीज था, वह इन दोनों के द्वारा ही बोया गया था। रामकृष्ण मिशन के द्वितीय सामान्य प्रतिवेदन (जनरल रिपोर्ट) में ढाका-केन्द्र का जो संक्षिप्त विवरण छपा है, उसमें इस बात की स्पष्ट स्वीकृति दीख पड़ती है – "मिशन की यह शाखा उस समय आरम्भ हुई, जब १८९९ ई. के प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द के निर्देश पर स्वामी विरजानन्द तथा प्रकाशानन्द इस अंचल में आये और व्याख्यानों तथा प्रवचनों द्वारा लोगों के मन में श्रीरामकृष्ण के सन्देश के प्रति रुचि पैदा करके कार्य का प्रथम बीजारोपण किया। उन्हीं के तत्त्वावधान में एक समिति की शुरुआत हुई, जिसके माध्यम से नियमित रूप से धर्म-विषय कक्षाएँ चलने लगीं।"

अपने ढाका निवास के दौरान प्रकाशानन्द तथा विरजानन्द, श्रीरामकृष्ण के विशिष्ट भक्त साधु नाग महाशय से मिलने हेतु एक बार नारायणगंज के पास स्थित देवभोग ग्राम भी गये थे। स्वामीजी के प्रिय शिष्यों को पाकर नाग महाशय के आनन्द की सीमा न रही। इन्हें पाकर वे प्रेम-गद्गद चित्त से मन-ही-मन बारम्बार कह रहे थे, "आज मेरा क्या ही भाग्य है, क्या ही भाग्य है! महापुरुषों ने कृपा करके मुझे चरणधूलि दी है!" दोनों संन्यासियों ने भी इन भक्ताग्रगण्य का पवित्र संग पाकर और उनकी जन्मभूमि का परिदर्शन करके स्वयं को परम कृतार्थ माना था।

अस्तु। प्रकाशानन्द के कुछ काल तक ढाका में प्रचार करने के बाद स्वामीजी ने उन्हें मठ में वापस बुला भेजा। अब वे 'उद्बोधन' पत्रिका की व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों तथा मिशन द्वारा आरम्भ हुए सेवाकार्यों में नियुक्त हुए। अभय मामा अर्थात् श्रीमाँ के अत्यन्त प्रिय छोटे भाई अभय मुखोपाध्याय जब कालरोग विसूचिका (हैजा) से आक्रान्त हुए, तो सारदानन्द जी के साथ प्रकाशानन्द ने भी अथक निष्ठा के साथ उनकी सेवा का भार वहन किया था। यह १८९९ ई. की बात है। १९०० ई. के अप्रैल माह से कुछ काल तक वे जन-कोलाहल के बीच दिखाई नहीं दिये। इन दिनों वे अपने गुरुभाई बोधानन्द के साथ हिमालय के गहन अंचलों या केदारनाथ-बद्रीनारायण आदि तीर्थों के पर्यटन में लगे हुए थे। इस प्ररिभ्रमण के दौरान – उदार उन्मुक्त दृष्टि के साथ भारत के प्राणकेन्द्र-स्वरूप तीर्थों आदि का दर्शन करते हुए, मार्ग में वे तरह-तरह की ज्ञान-सम्पदा एकत्र कर रहे थे! अनेक छोटी-छोटी घटनाओं ने तत्त्वान्वेषी संन्यासी के मानस-पटल पर नये-नये ज्ञान की छाप अंकित की थी। एक ऐसी ही घटना, जिसका वे बाद के दिनों में आवेगपूर्वक उल्लेख किया करते थे, इस प्रकार है –

दोनों संन्यासी हिमालय के वनों के बीच तुषार-मण्डित पर्वतीय पथ से होकर नीचे उतर रहे थे। सहसा वे लोग यह देखकर विस्मित रह गये कि महिला-तीर्थयात्रियों की एक टोली उसी मार्ग से चढ़ाई कर रही है। इन्हें देखकर महिलाओं ने कहा कि यदि मार्ग में कहीं कोई भटकी हुई महिला दिखे, तो वे उसे बता दें कि उसकी संगिनियाँ उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं और वह बिना किसी भय के इसी मार्ग से आगे जाकर उनके साथ हो ले। उस महिला की गोद में एक बच्चा है, संन्यासीगण उसे देखते ही पहचान सकेंगे। थोड़ी दूर जाने पर दोनों संन्यासियों को एक वैसी ही महिला दीख पड़ी। उन्होंने देखा कि एक तीन-चार महीने का शिशु परम निश्चिन्त भाव से माँ की गोद में सो रहा है और उस निद्रामग्न शिशु को गोद में लिये वह तीर्थयात्री माता बड़ी सावधानी के साथ फिसलनदार बर्फभरे पथ पर अग्रसर हो रही है। प्रकाशानन्द सोचने लगे – क्या इस नारी के मन में अपनी सन्तान के प्रति जरा भी ममता नहीं है! किस आकर्षण में वह घर छोड़कर हिंस्र जीव-जन्तुओं से परिपूर्ण, इस गहन वन के भयावह अंचल में, भयंकर संकटमय पथ पर, इस घोर ठण्डे बरफ के तूफान से होकर अपने शिशु को सीने से लगाये हुए इस यात्रा पर निकली है! आखिरकार उन्होंने अनुभव किया कि यही वैदिक भारत का सनातन आदर्श है। पहले धर्म और उसके बाद पुत्र-परिजन, जगत्-संसार आदि बाकी सब कुछ! आदर्श से भ्रष्ट, भोग को ही सर्वस्व माननेवाले वर्तमान युग में भी, ऐसा दृश्य बहुत दुर्लभ नहीं हुआ है, इसी से प्रमाणित हो जाता है कि सनातन भारत की अब भी मृत्यु नहीं हुई है और न होनेवाली है। सनातन भारत ही मानो मूर्ति धारण करके उस तीर्थयात्री नारी के रूप में परिव्राजक संन्यासी के सम्मुख प्रकट हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकाशानन्द का यह अनुभव सचमुच ही एक सार्थक और प्रेरणादायी दृश्य था।

❖ (क्रमशः) ❖
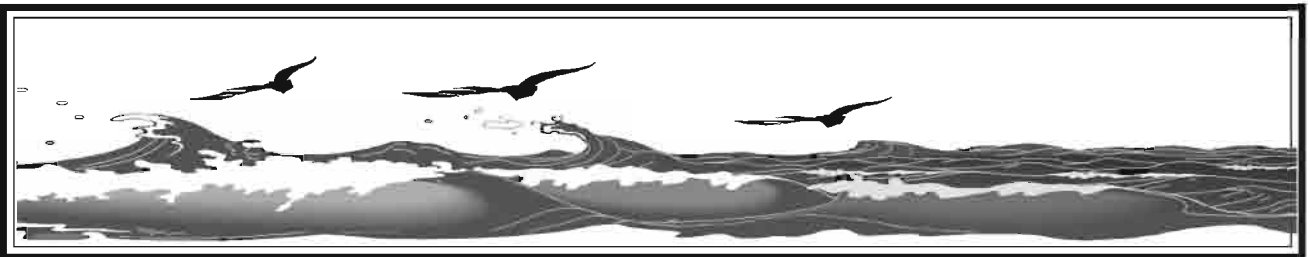
कर्मयोग – एक चिन्तन (१९)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

इस संसार में सुख नाम की कोई वस्तु नहीं है। जीवन का अधिकांश अनुभव हमें यही बताता है, कि संसार में दु:ख ही अधिक है। भगवान कहते हैं कि गीता के उपदेशों का जीवन में अगर पालन करोगे तो, दु:खेन गुरुणापि न विचाल्यते – कठिन दु:ख में भी विचलित नहीं होओगे और पूर्ण तृप्ति का अनुभव करोगे। भगवान कहते हैं –

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतराग भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते ।।२-५६ ।

– स्थितप्रज्ञ व्यक्ति दुखों से अनुद्विग्न, सुखों से निस्पृह और भय-क्रोधरहित होता है।

गीता के इस लक्ष्य की चर्चा आपके सामने इसलिये की जा रही है कि आप भी अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करें। मनुष्य के जीवन में यदि लक्ष्य न हो, तो उसे जीवन को सुसंचालित करने की प्रेरणा नहीं मिलती। उसका जीवन स्वयंचालित हो जाता है। इस संदर्भ में सुसंचालित और स्वयंचालित का अन्तर समझ लेना बहुत आवश्यक है।

स्वयंचालित जीवन क्या है? जब जीवन प्रकृति के द्वारा चलता है, तो वह स्वयंचालित है। इस जीवन का एक ही लक्ष्य है, वह है 'मृत्यु'। जैसे – सबेरे उठकर स्नानादि करके खाये-पिये, घर-संसार करते रहे। कुछ करते रहे, वैसा ही चलता रहा, सुबह हुई शाम हुई। तब इसी तरह एक दिन धीरे-धीरे जीवन का अन्त आ गया, मृत्यु आकर सामने खड़ी हो गयी। सोचकर देखा, तो पाया कुछ भी नहीं, जो कुछ मिला भी था, वह भी चला गया। जीवन की इस स्थिति से बचने के लिए, हमको गीता ने लक्ष्य दिया।

भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, 'मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है 'ईश्वर प्राप्ति'। यह सुनकर 'ईश्वर प्राप्ति' की कोई धारणा हमारे मन में नहीं होती है। यह एक शब्द मात्र है। जब तक शब्दों से उसके प्रतिरूप अर्थ का ज्ञान न हो, तब तक उस शब्द का कोई महत्व नहीं है, कोई अर्थ नहीं है। जब उस शब्द का कोई प्रतीक हमें मिलता है, तब हम जान पाते हैं कि इस शब्द का यह अर्थ है। मान लें, यहाँ कोई अंग्रेज बच्चा, या महिला-पुरुष बैठे हों और उनके सामने कहा जाय कि स्त्रियाँ हमारी 'बा' हैं, तो उस 'बा' शब्द से उसके मन में कोई धारणा नहीं होगी, वह कुछ समझ नहीं पायेगा। किन्तु यदि 'मदर' कहा जाय, तो वे तुरन्त समझ लेगें कि यह शब्द माँ के लिये है।

इसी प्रकार जब हम 'ईश्वर' कहते हैं, तो इसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और धारणा हमारे मन में नहीं होती। ईश्वर को दूसरों को बताने के लिये, हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं। 'ईश्वर' शब्द हम संस्कृत या देव नागरी में लिखते हैं। क्या उस अक्षर के अलावा दूसरी कोई भिन्न कल्पना हमारे मन में है? और यदि है, तो 'किम् भूत किमाकार' – क्या है, कैसा है? शिव को सोचकर हम बंदर को ही सोच पाते हैं। हनुमानजी को सोचकर एक बड़ा बंदर ही समझ पाते हैं। मारूती की जो शक्ति है, उस शक्ति की या उस रूप की हम कल्पना नहीं कर सकते। इसलिये केवल शाब्दिक ज्ञान जीवन में अधिक सहायता नहीं कर सकता है। यह ठाकुर की बात है, इसलिए हमनें विश्वास कर लिया और श्रीरामकृष्ण-वचनामृत में उसे सविस्तार पढ़ लिया। किन्तु इसे भगवान श्रीकृष्ण ने अत्यन्त सरल शब्दों में कहा, 'जिसे पाकर तुमको पूर्ण तृप्ति हो जायेगी, इससे तुरन्त बात समझ में आ जाती है। जैसे थेपला खाने से हुयी मानसिक तृप्ति का हमको अनुभव है। इस तृप्ति की मात्रा और काल को बढ़ा सकते हैं। समझने के लिये यह कठिन बात है, हमारे गले नहीं उतरती, किन्तु यह जान लीजिये कि संसार के करोड़ों लोग, जो संसारी हैं, उनका जन्म गीता सुनने-समझने के लिए नहीं हुआ है। उनके लिये इसका कोई अर्थ नहीं है। तो फिर यह गीता किसके लिये है? जिसने जीवन में यह अनुभव कर लिया कि जो भी इस जीवन में मुझे मिला, उससे मैं तृप्त नहीं हूँ, और अब इस संसार से और संसार में मुझे अब तृप्ति नहीं मिलने वाली है, यह गीता उसके लिए है। किन्तु पी.एच.डी. करने वालों के लिये भी गीता है – क्योंकि उनका वेतन बढ़ जायेगा, प्रोफेसर हो जायेंगे। इसलिये गीता पर दूसरों की लिखी हुयीं चार किताबें पढ़ लीं और पाँचवी अपनी लिख दी। यह गीता का उपयोग है। किन्तु इससे जीवन का निर्माण नहीं होगा। भगवान कहते हैं –

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। ७-३)

हजारों लोगों में से कोई एक व्यक्ति प्रयत्न करता है। उन प्रयत्न करने वालों में भी कोई एक व्यक्ति सिद्ध होता है, सफल होता है। उनमें से कोई मुझे तत्त्वत: जान पाता है। यह स्वयं भगवान श्रीकृष्ण की वाणी है। इसलिये हमें अपनी ओर देखना पड़ेगा कि हम कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं?

मान लिया कि आपको संसार में जो मिला, उससे आप संतुष्ट थे, किन्तु क्या उससे अधिक गुणा ज्यादा स्थायी और

दीर्घकालीन किसी सुख का अनुभव है? जिस सुख की अनुभूति को हम कभी न भूलें, मृत्युपर्यंत ही नहीं उसके बाद भी हम उस सुखद और शान्त अनुभव को कभी भी न भूलें। गीता कहती है, वही तुम्हारा लक्ष्य है और वह समता से ही प्राप्त होगा।

मन में सुख और दुःख कब होता है – जब मन में इच्छाओं की, स्वाद की तरंगें उठती हैं। हमारे पसन्द का भोजन मिला, तो सुख हुआ, मन में आनन्द की लहर उठती है। किसी मित्र का वियोग हुआ, किसी का पर्स गिर गया, तो दुःख हुआ। वह भी मन की एक लहर है कि अरे, मेरे पर्स में पाँच हजार रूपये थे, कहाँ गिर गये? मोबाईल फोन ले जा रहे थे, किसी ने चुरा लिया, तो दुःख हुआ। दुःख और सुख की परिस्थितियों से हम बच नहीं सकते। ये स्थिति हमको बाध्य करती है। किन्तु गीता इससे बचने का हमें मार्ग बताती है –

दुःखेषु अनुद्विग्न मना सुखेसु विगत स्पृहः। २/५६

किन्तु अधिकांश लोग सांसारिक सुख ही चाहते हैं। भारतवर्ष में हजारों धार्मिक प्रतिष्ठान हैं। रामकृष्ण मिशन से या किसी भी धार्मिक प्रतिष्ठान से साधु-संत और प्रवचनकारों से अधिकांश लोग भौतिक उपलब्धियाँ ही चाहते हैं। सकाम भावना से किया गया सत्कर्म भी अच्छा है, लेकिन हमें इससे भी श्रेष्ठ की ओर जाना है।

कई बार हमें लोग बुलाते हैं। क्यों बुलाते हैं? किसी के घर धार्मिक यज्ञ हो रहा है। क्यों कोई नया यज्ञ कर रहा है? क्योंकि व्यवसाय में घाटा लग गया था, घर में कोई विपत्ति आ गयी थी, पुत्र का विवाह हुआ, तो बहू और बेटे में विवाद हो गया इत्यादि। कुछ न करने से कुछ करना अच्छा है, किन्तु यह शत-प्रतिशत व्यवसाय है। आध्यात्मिकता का इससे कोई लेना-देना नहीं है। जो लोग शास्त्रविधि से इसे करेंगे, उन्हें इसका लाभ मिलेगा। किन्तु हमें सुख-दुख से परे साम्यता में स्थित होना है। हम सदैव उस लक्ष्य को अपने सामने रखें। हमें इसी जीवन में मृत्यु के पूर्व एक ऐसी मन की स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करना है कि सुख में भूल न जायें और दुःख में विचलित न हों। समता में स्थित रहें। यहीं गीता का उपदेश है।

हम गीता के इस २५वें श्लोक के सूत्र को पकड़ने का प्रयास करें, जिसमें हमारा परम लाभ होगा। हमें उसकी असंख्य आवृत्ति करनी पड़ेगी। हम अपने जीवन की पसंद की वस्तु की प्राप्ति के लिये उसकी बहुत बार आवृत्ति करते हैं। कैसे? जो व्यवसायी है, क्या वह कभी सोचता है कि अरे भाई, रोज-रोज उसी दुकान को क्यों खोलें? वही चीजें रोज-रोज क्यों बेंचे? वही ड्राईंग, वहीं डिजाइन रोज क्यों बनायें? ऐसा कभी मन में आता है? व्यापारी सदैव निष्ठा से प्रतिदिन उसी कार्य को करते रहते हैं। क्यों करते हैं? क्योंकि उनको उससे लाभ मिलता है। डिजाइनिंग करनेवाले को उससे पैसे मिलते हैं। नौकरी करनेवाले को वेतन मिलता है। इसलिये ये सारे लोग प्रतिदिन अनगिनत बार अपने कार्यों की आवृत्ति किया करते हैं। संसार के दूसरे और भी कितने सुख हैं, जिनकी कितनी बार आवृत्ति लोग करते हैं, लेकिन क्या उससे उनकी आकांक्षा मिटी? यह हमें स्वयं से पूछना चाहिये। कितनी बार, हजारों बार इच्छायें कीं, अपने मन के, अपने फैशन के कपड़े पहने, अपने ढंग से रहे, ब्यूटी पार्लर में जाकर ब्यूटीफाय करने की कोशिश की, किन्तु क्या ऐसा लगा कि अब हम यह नहीं करेंगे? नहीं, उनकी आवृत्ति में हमको कभी दोष नहीं लगता है। टेलीविजन में जो उपन्यास सिरीज, सिरियल आपको पसन्द है, वह जब आता है, तब क्या आपको ऐसा लगता है कि इसे अब नहीं देखना चाहिये। ऐसा नहीं लगता है, जितनी बार देखो अच्छा ही लगता है।

किन्तु, हम जीवन के मौलिक नियम को भूल जाते हैं। यदि हमें नाम-जप करना हो, आश्रम में जाना हो, गीता पढ़ना हो, बाईबिल, कुरान पढ़ना हो, तो हम कहते हैं – 'अभी मैं जप किया हूँ, कुछ दिन पहले ही तो आश्रम गया था, गीता तो हमने पढ़ लिया है।' आपमें से बहुत कम लोग जानते होंगे – मर्लिन मुनरो एक अमेरिका की नटी थी। किसी कारण से उसने आत्महत्या कर ली थी। उससे संबंधित बहुत-सी बातें उस समय पत्र-पत्रिकाओं में आती थीं। सभी लोग उसके बारे में विस्तार से जानने के लिये उत्सुक रहते थे। दो वर्ष पूर्व शायद 'रिडर्स डायजेस्ट' में उसके ऊपर शोध करके किसी ने लेख लिखा था। रिडर्स डायजेस्ट वाले किताब तो खुद बेचते थे, किन्तु उसके ऊपर लिखा था – नाट फार सेल। हजारों प्रतियाँ उसकी बिक्री हो गयीं। उससे हमको क्या लेना-देना है कि वह कैसे मरी, क्या हुआ, क्या नहीं? न्यूओ पेइ का नाम हम आज भी सुनते हैं। दो हजार साल पहले वह मर गया। उसकी कितनी दुर्गति हुयी थी। यह सब जानते हुये भी हमें संसार में सुख प्रतीत होता है। संसार की भूमि, संसार की वस्तु, और व्यक्तियों से हम सुख चाहते हैं। इससे हमें स्थायी सुख नहीं मिल सकता। इसलिये शास्त्रों की निरन्तर आवृत्ति करनी चाहिये। दीर्घकाल तक सत्कार सेवित आवृत्ति करनी चाहिये।

❖ (क्रमशः) ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (३१)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

यस्मात् आत्मनः इन्द्रियाणां पृथग्भावः उक्तो, न असौ बहिः अधिगन्तव्यः यस्मात् प्रत्यगात्मा स सर्वस्व। तत् कथम् इति उच्यते –

जिस आत्मा की इन्द्रियों से पृथकता बतायी गयी, उसे कहीं बाहर नहीं जानना है, क्योंकि यही सबकी अन्तरात्मा है। यह कैसे हो सकता है, अब यही बताते हैं –

इन्द्रियेभ्यः परं मनः मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।। २/३/७

अन्वयार्थ – **इन्द्रियेभ्यः** इन्द्रियों की अपेक्षा **मनः** मन **परम्** उत्तम है, **मनसः** मन से **सत्त्वम्** बुद्धि **उत्तमम्** उत्तम है; **सत्त्वात्** बुद्धि से **महान् आत्मा** महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) **अधि** अधिक है; और **महतः** हिरण्यगर्भ से **अव्यक्तम्** अव्यक्त प्रकृति या माया **उत्तमम्** श्रेष्ठ है।

भावार्थ – इन्द्रियों की अपेक्षा मन उत्तम है, मन से बुद्धि उत्तम है, बुद्धि से महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) अधिक है; और हिरण्यगर्भ से अव्यक्त प्रकृति या माया श्रेष्ठ है।

भाष्यम् – इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि। अर्थानाम् इह इन्द्रिय-समान-जातीयत्वात् इन्द्रिय-ग्रहणेन एव ग्रहणम्। पूर्ववत् अन्यत्। सत्त्व-शब्दात् बुद्धिः इह उच्यते।। २/३/७ (१०८)

भाष्य-अनुवाद – इन्द्रियों की अपेक्षा मन उत्तम है आदि। विषयों का इन्द्रियों के साथ समान जातीयता होने के कारण, यहाँ इन्द्रियों के ग्रहण से उनके विषयों का भी ग्रहण मान लेना चाहिये। अन्य सब पूर्ववत् (कठ. १/३/१० के समान)। यहाँ सत्त्व शब्द का बुद्धि के अर्थ में उल्लेख किया गया है।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति।। २/३/८

अन्वयार्थ – **तु** परन्तु **व्यापकः** व्यापक **च** तथा **अलिङ्गः एव** सर्वथा निराकार **पुरुषः** परमात्मा, **यम्** जिसे **ज्ञात्वा** जानकर **जन्तुः** प्राणी (जीवित रहते ही) **मुच्यते** मुक्त **च** और **अमृतत्त्वम्** (मृत्यु के बाद) अमरत्व को **गच्छति** प्राप्त होता है, (वह पुरुष) **अव्यक्तात्** माया से **परः** श्रेष्ठ है।

भावार्थ – परन्तु व्यापक तथा सर्वथा निराकार परमात्मा, जिसे जानकर प्राणी (जीवित रहते ही) मुक्त और (मरणोपरान्त) अमरत्व को प्राप्त होता है, (वह पुरुष) माया से श्रेष्ठ है।

भाष्यम् – अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्य अपि आकाश-आदेः सर्वस्य कारणत्वात्। अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन तत् लिङ्गं बुद्ध्यादि तत् अविद्यमानम् अस्य इति सः अयम् अलिङ्ग एव। सर्व-संसार-धर्म-वर्जित इति एतत्। यं ज्ञात्वा आचार्यतः शास्त्रतः च मुच्यते जन्तुः अविद्या-आदि-हृदय-ग्रन्थिभिः जीवन्-एव पतिते अपि शरीरे अमृतत्वं च गच्छति सः अलिङ्गः परः अव्यक्तात् पुरुष इति पूर्वेण एव सम्बन्धः।।२/३/८ (१०९)

भाष्य-अनुवाद – पुरुष अव्यक्त से उत्कृष्ट है और वह आकाश आदि सभी व्यापक वस्तुओं का भी कारण होने से व्यापक है। जिन लिंगों अर्थात् लक्षणों के द्वारा ज्ञान होता हैं, वे बुद्धि आदि उसमें नहीं हैं, अत: वह अलिंग ही है। वह समस्त सांसारिक लक्षणों से अतीत है। जिसे आचार्य तथा शास्त्र से जानकर व्यक्ति, जीवित रहते ही अविद्या आदि हृदय की ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है; और शरीर का नाश होने पर अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। इस अंश का पूर्व से इस प्रकार सम्बन्ध है – उस अलिंग परम पुरुष अव्यक्त से उत्कृष्ट है, जिसे जानकर व्यक्ति मुक्त हो जाता है और अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

* * *

कथं तर्हि अलिङ्गस्य दर्शनम् उपपद्यते इति उच्यते –

तो फिर उस वस्तु का दर्शन कैसे हो सकता है, जिसका कोई चिह्न/लक्षण/उपाधि ही नहीं है? अब यही बताते हैं –

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।। २/३/९

अन्वयार्थ – **अस्य** इसका **रूपम्** रूप **संदृशे** दृष्टि के विषय-रूप में **न तिष्ठति** विद्यमान नहीं रहता, **एनम्** इसको **कः चन** कोई भी **चक्षुषा** नेत्र के द्वारा **न पश्यति** नहीं देखता। **मनसा** मनन के द्वारा **अभिक्लृप्तः** अभिव्यक्त आत्मा **हृदा** हृदय में स्थित **मनीषा** (शुद्ध) बुद्धि के द्वारा (यह ज्ञात होता है)। **ये** जो लोग **एतत्** इस आत्मा को (प्रत्यक्ष ब्रह्म के

रूप में) **विदुः** जानते हैं, **ते** वे **अमृताः** अमर **भवन्ति** हो जाते हैं।

भावार्थ–इसका रूप दृष्टि के विषय-रूप में विद्यमान नहीं रहता, इसको कोई भी नेत्र के द्वारा नहीं देखता। मनन के द्वारा अभिव्यक्त आत्मा हृदय में स्थित (शुद्ध) बुद्धि के द्वारा (यह ज्ञात होता है)। जो लोग इस आत्मा को (प्रत्यक्ष ब्रह्म के रूप में) जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

भाष्यम् – न संदृशे संदर्शन-विषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनः अस्य रूपम्। अतः न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण, चक्षुः ग्रहणस्य उपलक्षणार्थत्वात्, पश्यति न उपलभते कश्चन कश्चिद् अपि एनं प्रकृतम् आत्मानम्।

भाष्य-अनुवाद – इस अन्तरात्मा का रूप दृष्टि के विषय के रूप में नहीं रहता। अत: कोई भी इस वास्तविक आत्मा को नेत्रों के द्वारा नहीं देख सकता; नेत्र शब्द के उपलक्षण से सभी इन्द्रियों के द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता।

कथं तर्हि तं पश्येत् इति उच्यते। हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या। मनीषा मनसः संकल्प-आदि-रूपस्य इष्टे नियन्तृत्वेन इति मनीट् तया हृदा मनीषा-विकल्पयित्र्या मनसा मननरूपेण सम्यक्-दर्शनेन अभिक्लृप्तो अभिसमर्थितो अभि-प्रकाशितम् इति एतत्। आत्मा ज्ञातुं शक्यते इति वाक्यशेषः। तम् आत्मानं ब्रह्म एतत् ये विदुः अमृताः ते भवन्ति।। २/३/९ (११०)

तो फिर उसे कैसे देखा जा सकता है, यह बताते हैं। हृदय में स्थित बुद्धि के द्वारा, वह जो मन का नियन्ता है और मन के संकल्प आदि रूपों के नियंत्रण द्वारा मन पर शासन करती है, इसीलिये उसे (बुद्धि को) मनीट् कहते हैं। हृदय में स्थित उस मनीट् या निर्विकल्प बुद्धि द्वारा। अर्थात् मनन के रूप में सम्यक् विचार के द्वारा जब समर्थित या प्रकाशित हो जाता है, तब अन्तरात्मा को जानना सम्भव हो जाता है – इतना जोड़ लेना होगा। जो लोग इस आत्मा को ब्रह्म जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

* * *

सा हृत्–मनीट् कथं प्राप्यते इति तदर्थो योग उच्यते –

वह हृदय में स्थित बुद्धि कैसे प्राप्त होती है, उसके लिये योग का वर्णन करते हैं –

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।। २/३/१०

अन्वयार्थ – **यदा** जब **मनसा सह** मन के साथ **पञ्च** पाँच **ज्ञानानि** ज्ञानेन्द्रियाँ **अवतिष्ठन्ते** स्थिर हो जाती हैं; (और) **बुद्धिः च** बुद्धि भी **न विचेष्टति** निश्चेष्ट (निष्क्रिय) हो जाती है, **ताम्** उस अवस्था को (योगीगण) **परमाम्** उत्तम **गतिम्** अवस्था **आहुः** कहते हैं।

भावार्थ – जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं; (और) बुद्धि भी निश्चेष्ट (निष्क्रिय) हो जाती है, उस अवस्था को (योगीगण) उत्तम अवस्था कहते हैं।

भाष्यम् – यदा यस्मिन् काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितानि आत्मनि एव पञ्च ज्ञानानि-ज्ञानार्थत्वात् श्रोत्र-आदीनि इन्द्रियाणि ज्ञानानि उच्यन्ते, अवतिष्ठन्ते सह मनसा यत् अनु -गतानि तेन संकल्प-आदि-व्यावृत्तेन अन्तःकरणेन; बुद्धिः च अध्यवसाय-लक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते ताम् आहुः परमां गतिम्।। २/३/१० (१११)

भाष्य-अनुवाद – उस अवस्था में, जब श्रोत्र आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से लौटकर संकल्प आदि वृत्तियों से उपरत होकर अन्त:करण के साथ आत्मा में स्थित हो जाती हैं – ज्ञान का साधन होने के कारण श्रोत्र आदि इन्द्रियों को ज्ञान कहते हैं। वे सर्वदा मन का अनुगमन करती हैं। और निश्चयात्मिका बुद्धि भी अपनी गतिविधियों में संलग्न नहीं होती, उसे परम गति (सर्वोच्च अवस्था) कहते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

न ह्यस्ति विश्वं परतत्त्वबोधात्
सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे।
कालत्रये नाप्यहिरीक्षितो गुणे
न ह्यम्बुबिंदुर्मृगतृष्णिकायाम्।।४०४।।

अन्वय – पर-तत्त्व-बोधात् (प्राक् अपि) सत्–आत्मनि निर्विकल्पे ब्रह्मणि विश्वं न हि अस्ति। गुणे ईक्षितः अहिः काल-त्रये अपि न, (तथा) मृगतृष्णिकायां अम्बु-बिन्दुः हि न (अस्ति)।

अर्थ – उस परब्रह्म की अनुभूति होने के पूर्व भी उस निर्विकल्प, सत्यस्वरूप परब्रह्म में विश्व का अस्तित्व ही नहीं होता। जैसे तीनों कालों (भूत, वर्तमान या भविष्य) में कभी रस्सी में सर्प का अस्तित्व नहीं होता अथवा मृग-मरीचिका में जल की एक बूँद भी नहीं रहती।

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।
इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते।।४०५।।

अन्वय – इदं द्वैतं माया-मात्रं, अद्वैतं परमार्थतः इति श्रुतिः ब्रूते। सुषुप्तौ साक्षात् अनुभूयते।

अर्थ – श्रुति स्वयं कहती है कि इस संसार में दिखनेवाला द्वैत माया मात्र है और परमार्थ की दृष्टि से अद्वैत ही सत्य है। सुषुप्ति अवस्था में भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

अनन्यत्वमधिष्ठानादारोप्यस्य निरीक्षितम्।
पण्डितै रज्जुसर्पादौ विकल्पो भ्रान्तिजीवनः।।४०६।।

अन्वय – पण्डितैः रज्जु–सर्प–आदौ आरोप्यस्य अधिष्ठानात् अनन्यत्वं निरीक्षितम्, विकल्पः भ्रान्ति–जीवनः ।

अर्थ – ज्ञानी लोगों ने रज्जु-सर्प आदि (के दृष्टान्त) में आरोपित वस्तु की अधिष्ठान से अभिन्नता देखी है। विकल्प (एक वस्तु में दूसरे का ज्ञान) मात्र भ्रान्ति रहने तक रहता है।

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ।।४०७।।

अन्वय – अयं विकल्पः चित्तमूलः, चित्त–अभावे न कश्चन । अतः प्रत्यग्–रूपे परात्मनि चित्तं समाधेहि ।

अर्थ – इस विकल्प का कारण चित्त है। चित्त का अभाव होने पर ऐसा नहीं होता। अत: चित्त को अन्तरात्मा रूपी परब्रह्म में लगाओ।

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् ।
निरवधिगगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ।।४०८।।

अन्वय – किं अपि सततबोधं केवलानन्दरूपं निरुपमं अतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहं निरवधि गगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं पूर्णं ब्रह्म, विद्वान् समाधौ हृदि कलयति ।

अर्थ – ज्ञानी व्यक्ति समाधि के समय अपने हृदय (बुद्धि) में कुछ ऐसे सतत बोधरूप तथा केवल आनन्दरूप पूर्ण ब्रह्म का अनुभव करता है; जो निरुपम, नि:सीम, नित्यमुक्त, निष्क्रिय, असीम गगन के समान (असंग), अखण्ड और निर्विकल्प है।

प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावं
समरसमसमानं मानसम्बन्धदूरम् ।
निगमवचनसिद्धं नित्यमस्मत्प्रसिद्धं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ।।४०९।।

अन्वय – प्रकृति–विकृतिशून्यं भावनातीत–भावं समरसं असमानं मान–सम्बन्ध–दूरम् निगम–वचनसिद्धम् नित्यम् अस्मत्–प्रसिद्धं पूर्णं ब्रह्म विद्वान् समाधौ हृदि कलयति ।

अर्थ – ज्ञानी व्यक्ति समाधि के समय अपने हृदय में उस पूर्ण ब्रह्म का अनुभव करता है; जो कार्य-कारण सम्बन्ध से रहित है, मन-वाणी के अगोचर है, एकरस है, अनुपम है, ज्ञान के प्रमाणों के परे है, निगम (वेद) के वाक्यों से प्रमाणित है, सर्वदा 'अस्मत्'-प्रत्यय (अहंबोध) से ओतप्रोत है।

अजरममरमस्ताभाववस्तुस्वरूपं
स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम् ।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ।।४१०।।

अन्वय – अजरं अमरं अस्त–अभाव–वस्तु–स्वरूपं स्तिमित–सलिल–राशि–प्रख्यम् आख्या–विहीनं शमित–गुण–विकारं शाश्वतं शान्तम् एकम् पूर्णं ब्रह्म विद्वान् समाधौ हृदि कलयति ।

अर्थ – ज्ञानी व्यक्ति समाधि के समय अपने हृदय में उस पूर्ण ब्रह्म का अनुभव करता है; जो अजर (वार्धक्य-रहित) है, अमर है; जो ऐसी वस्तु के स्वरूप वाला है, जिसके सारे अभाव दूर हो गये हैं, जो समुद्र के समान शान्त है, जो नामरहित है, जो गुण-दोष-रूपी विकारों से रहित हो गया है; जो शाश्वत, शान्त और अद्वितीय है।

समाहितान्तःकरणः स्वरूपे
विलोकयात्मानमखण्डवैभवम् ।
विच्छिन्धि बन्धं भवगन्धगन्धितं
यत्नेन पुंस्त्वं सफलीकुरुष्व ।।४११।।

अन्वय – समाहित–अन्तःकरणः स्वरूपे अखण्ड–वैभवम् आत्मानम् विलोकय, भवगन्धगन्धितं बन्धं विच्छिन्धि, यत्नेन पुंस्त्वं सफली–कुरुष्व ।

अर्थ – अपने स्वरूप में अन्त:करण को स्थिर करके अखण्ड वैभवशाली आत्मा का साक्षात्कार करो और जन्म-जन्मान्तर के संस्कार-रूप दुर्गन्धयुक्त अहंकार आदि बन्धनों को छिन्न करके, प्रयत्नपूर्वक अपने नर-जन्म को सफल करो।

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
भावयात्मानमात्मस्थं न भूयः कल्पसेऽध्वने ।।४१२।।

अन्वय – सर्वोपाधि–विनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दं अद्वयं आत्मानं आत्मस्थं भावय, भूयः अध्वने न कल्पसे ।

अर्थ – हृदयगुहा में स्थित समस्त (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण रूप) उपाधियों से मुक्त, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, अद्वितीय आत्मा का चिन्तन करो, तो पुन: इस (जन्म-मृत्यु-रूप) संसार-चक्र में आने की बात ही नहीं उठेगी।

छायेव पुंसः परिदृश्यमानमाभासरूपेण फलानुभूत्या ।
शरीरमाराच्छववन्निरस्तं पुनर्न संधत्त इदं महात्मा।।४१३।।

अन्वय – पुंसः छाया इव फल–अनुभूत्या आभास–रूपेण शववत् आरात् निरस्तं इदं शरीरं महात्मा पुनः संधत्ते न ।

अर्थ – प्रारब्ध-कर्मों के फलभोग हेतु, व्यक्ति की छाया के समान मात्र आभास-रूप दिखनेवाले, शव के समान दूर परित्यक्त, इस शरीर को महात्मा पुन: धारण नहीं करते।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२४६. पतझड़ को भी कहो – स्वागतम्

एक बार एक राजा ने अपने पुत्र को शिक्षा ग्रहण करने के लिए सन्त सेरोपियो के पास भेजा। छह महीने बाद राजा पुत्र को लेने के लिये उनके पास जा पहुँचा।

सन्त ने कहा, ''वैसे तो सारी शिक्षाएँ दी जा चुकी हैं, किन्तु उसे बागवानी की शिक्षा देना बाकी है।'' उन्होंने राजकुमार को बागवानी के बारे में विस्तार से समझाया और एक सुन्दर वाटिका तैयार करने को कहा। एक महीने बाद वे जब बगीचा देखने गये, तो राजकुमार ने कहा, ''गुरुदेव यदि आप आधे घण्टे भी यहाँ रहें, तो तरोताजा और प्रफुल्लित महसूस करेंगे। आधे घण्टे बाद आपको सुख की नींद भी आ सकती है।'' सेरोपियो ने कहा, 'वैसे तो बगीचा तुमने बहुत ही सुन्दर बनाया है, लेकिन इसमें कुछ कसर है। एक महीने बाद मैं फिर इसे देखना चाहूँगा। तब तक तुम इसे और अच्छा बनाने की कोशिश करो।'' राजकुमार ने उसे और चित्ताकर्षक बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। किन्तु एक महीने बाद जब संत उसे देखने आए, तो इस बार भी उन्होंने अपनी नापसन्दगी दर्शायी। तब राजकुमार ने कहा, ''गुरुदेव, मैंने अपनी ओर से इसे बहुत ही खूबसूरत बनाने की कोशिश की है। इसमें क्या खामी है, इसे मैं जान नहीं सका। यदि आप बता दें, तो मैं वह भी कर दूँगा।''

सन्त ने कहा, ''राजकुमार, इसमें खामी यह है कि यह स्वाभाविक नहीं दिखाई दे रहा है।'' फिर वे बाहर गए और वहाँ से टोकरी भर-भरकर सूखे पत्ते बगीचे में ले आए। थोड़ी ही देर बाद जब आँधी आई, तो टोकरी के पत्ते बगीचे में सब तरफ उड़कर बिखर गए। तब सेरोपियों ने राजकुमार से कहा, ''कुमार, अब यह बगीचा स्वाभाविक और प्राकृतिक लग रहा है। पहले यहाँ केवल हरियाली थी। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पेड़-पौधों को पतझड़ का भी सामना करना पड़ता है। हरियाली – यौवन का प्रतीक है और पतझड़ बुढ़ापे का। मनुष्य के जीवन में केवल युवावस्था नहीं आती, उसे वृद्धावस्था का भी सामना करना पड़ता है। केवल युवावस्था से जीवन की वास्तविकता का पता नहीं चलता। इसलिए हमें वृद्धावस्था का भी ध्यान रखना चाहिए। जीवन में सुख के साथ दुख और हर्ष के साथ शोक के भी क्षण आते रहते हैं। ये न आयें, तो हमारा जीवन एकांगी हो जायगा। वन ईश्वर की कृति होने के कारण वहाँ प्रकृति का सही-सही दर्शन होता है, लेकिन बाग-वाटिका मनुष्य की निर्मिति होने से, वहाँ प्रकृति के दर्शन नहीं होते, इसलिये हमें ईश्वर का ही अनुकरण करना चाहिए।

२४७. आशावादी हो करो, जनहित के सब काम

आचार्य विनोबा भावे भूदान-आन्दोलन के सिलसिले में ग्राम-ग्राम में भ्रमण कर रहे थे और लोगों से अनुरोध कर रहे थे कि यदि सम्भव हो, तो अपनी कुछ भूमि दान करें। एक दिन एक ग्राम में एक व्यक्ति ने उनसे पूछा, ''क्या आपको विश्वास है कि जनता की ओर से आपको अच्छा सहयोग मिलेगा? आपका आन्दोलन भले ही रचनात्मक है, लेकिन मुझे तो नहीं लगता कि आप आर्थिक दृष्टि से पिछड़े लोगों का उद्धार कर सकेंगे।''

विनोबाजी ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया, ''मनुष्य में यह एक बड़ा दुर्गुण है कि वह कभी अच्छे कार्यों के प्रति आशावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाता, उन्हें वह सर्वदा शंका की दृष्टि से ही देखता है।'' उन्होंने आगे कहा, ''इस संसार में दो तरह के लोग होते हैं। एक चावल की ढेरी जैसे होते हैं। इस ढेरी में से यदि मुट्ठी भर-भरकर चावल निकाला जाय, तो ढेरी में जगह-जगह गड्ढे दिखाई देंगे। इससे चावल के बिखरने और विघटित होने का भय बना रहेगा। दूसरे किस्म के लोग बाल्टी में भरे हुए पानी के जैसे होते हैं। बाल्टी में से जब-जब पानी निकाला जाएगा, बाल्टी में जल का स्तर समान दिखाई देगा। यदि सैकड़ों बाल्टियों का पानी निकाल-निकालकर फेंका जाये, तो वह आगे बढ़ता जायगा; और लोग यदि चाहे तो वे उसका उपयोग कर सकेंगे। मनुष्य भी यदि पानी के समान अपना दायित्व समझकर समाज की भलाई और कल्याणकर कामों में योगदान दे, तो समाज के सुचारु रूप से चलने में कोई कठिनाई नहीं आयगी। मगर इसके लिए उसे स्वत:स्फूर्त भाव से देश के उत्थान की सारी योजनाओं में हाथ बँटाना होगा। यदि मनुष्य केवल कुशंकाएँ ही व्यक्त करता रहेगा, तो इससे समाज की कभी भलाई नहीं होगी। जहाँ तक भूदान-आन्दोलन का प्रश्न है, तुम विश्वास करो कि हमें इसका अच्छा परिणाम मिल रहा है और मुझे यह बताने में गर्व है कि हम अपने उद्देश्य में सफल हो रहे हैं।''

❑❑❑
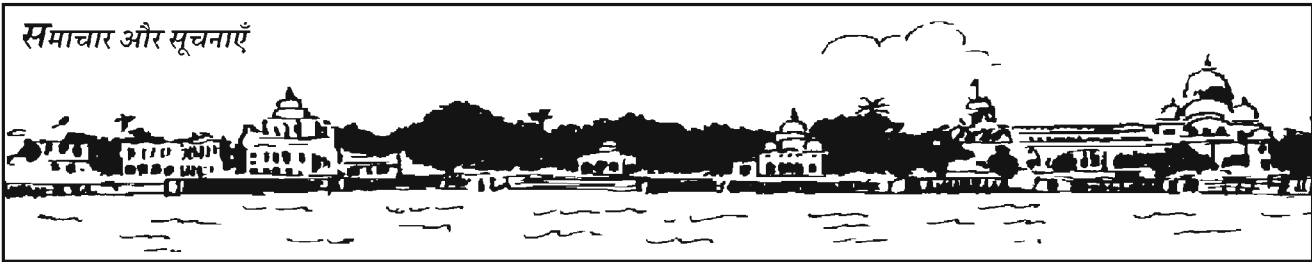
राज्यपाल महोदय का आश्रम में पदार्पण

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर और छत्तीसगढ़ संस्कृति फाउंडेशन के संयुक्त तत्त्वावधान में रविवार, १३ जनवरी २०१३, शाम ६.३० बजे आश्रम के सत्संग-भवन में आयोजित सभा के मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ के राज्यपाल माननीय श्री शेखर दत्त जी ने कहा – ''हम अपने कर्तव्य और व्यवहार में ऐसे हों, जो उस काल की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि कर सकें। हमारी कथनी और करनी में अन्तर है। हम देखते हैं, लेकिन समझते नहीं हैं। नैतिकता की सारी परिभाषायें हम जानते हैं, लेकिन उसके छोटे से अंश का भी हम पालन नहीं कर पाते। हम बच्चों में यह धारणा ला सकें कि वे महान देश के एक महान नागरिक हैं। बच्चे बड़ों से सीखते हैं, इसलिये हमें अपनी कथनी और करनी के अन्तर की दूरियों को कम करना होगा।''

सभा के मुख्य वक्ता निदेशक, भारत भाषा परिषद, विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली के श्री अभय कुमार दूबे जी थे। उन्होंने 'आज के विवेकानन्द' नामक विषय पर अपने बौद्धिक एवं सारगर्भित व्याख्यान देते हुये कहा – ''राष्ट्र की संकल्पना धरती पर उतारना समाज का काम है। जब सभी धर्म समान हैं, तो धर्म को सहिष्णु नहीं स्वाभाविक होना चाहिये। स्वामीजी ने शासकवर्ग का चक्रिया सिद्धान्त के अनुसार घोषणा की कि अगला राज्य शूद्रों का होगा, किन्तु यह भी कहा कि चाहे किसी की भी सत्ता हो, आम जनता से कटनेवाले का राज्य चला जायेगा।''

भारत सरकार में कृषि राज्यमंत्री डॉ. चरणदास महंत जी ने कहा कि – ''आज के विवेकानन्द को मैं छत्तीसगढ़ में खोजता हूँ। आज के स्वामी विवेकानन्द कहाँ हैं? आज के स्वामी विवेकानन्द चित्रों में, किताबों में, साहित्यों में हैं। हमारे स्वामीजी प्रेम में हैं, ज्ञान में हैं, शिक्षा में और मानवता में हैं। जहाँ सर्वधर्मसमभाव, सर्वधर्मसमन्वय है, वहाँ हम स्वामीजी के नजदीक खड़े हैं। स्वामीजी ईश्वरपुत्र के रूप में आये थे। हमारे रायपुर में रहनेवाले विवेकानन्द कहाँ हैं?''

रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी ने कहा कि हम संकल्प लें कि हम नया भारत गढ़ेंगे।

स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने कहा – ''श्रीकृष्ण का संदेश है कि युद्ध देश की समस्याओं का समाधान कभी नहीं कर सकता। विवेकानन्द का समकालीन संदेश है सेवा करो। वेदान्त का संदेश है – मनुष्य की दिव्यता, विश्व की एकता और जीव की समानता। भोगवाद के रहते दुराचार को रोकना असंभव है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को बतायें कि तुम नित्य-बुद्ध-शुद्ध चैतन्य आत्मा हो। तुम अमृत की संतान हो।''

इसके बाद सम्माननीय राज्यपाल महोदय ने स्वामी सत्यरूपानन्द जी की अभिनव पुस्तक 'आनन्दमय जीवन के सूत्र' का विमोचन किया। आगत अतिथियों को पुस्तक उपहार दिया गया। धन्यवाद ज्ञापन छत्तीसगढ़ फाउंडेशन के सह-संयोजक डॉ राजेन्द्र मिश्र और सभा का संचालन डॉ ओमप्रकाश वर्मा जी ने किया। आश्रम-छात्रावास के छात्रों के गीत से कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

हैदराबाद आश्रम के द्वारा हैदराबाद नगर निगम के १५० सफाई कर्मियों, कचड़ा उठाने वालों और गाड़ी चालकों के लिये आध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया गया। सभी प्रतिभागियों को फल, ऊनी कंबल, कुछ पुस्तकें और एक वर्ष के लिये 'रामकृष्ण प्रभा' पत्रिका की सदस्यता प्रदान की गयी।

मैंगलोर आश्रम के द्वारा कर्नाटक के ७ जिलों में युवा शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें लगभग ५००० युवकों ने भाग लिया।

विजयवाड़ा में १६ से १८ तक युवा शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें ३५०० युवकों ने भाग लिया।

रामकृष्ण मिशन, जमशेदपुर में युवा-शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें कई राजयों के ३५०० युवकों ने भाग लिया।

जेसोर (बांगलादेश) में २७ नवम्बर, २०१२ को जूलूस, व्याख्यान और संगीत कार्यक्रम में ६००० लोगों ने भाग लिया।

सेटल (अमेरिका) में २७ नवम्बर को आध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया गया।

❑❑❑